

आचार्य वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणि ग्रन्थ से  
संकलित

# सूक्तिसंग्रह

संपादक एवं अनुवादक  
ब्र. यशपाल जैन  
एम. ए., जयपुर

प्रकाशक  
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५  
फोन : (०१४१) ५१५४५८, ५१५५८१  
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण :  
(दिनांक १५ फरवरी २००२)  
५००० प्रतियाँ

कीमत :  
चार रुपये

टाईपसेटिंग :  
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स  
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :  
प्रिंट 'ओ' लैण्ड  
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम  
करनेवाले दातारों की सूची

- ५००१/- श्री सुरेशचन्द्रजी अजितकुमारजी तोतूका, जयपुर  
५०१/- श्रीमती सुनीता पारोल, ललितपुर  
५०१/- श्रीमती मनोरमा गुलाबचंदजी जैन, भोपाल  
५००/- श्री अनूपकुमारजी जैन, ललितपुर  
५००/- श्री अक्षयकुमारजी टडैया, ललितपुर  
५००/- श्री राजकुमारजी जैन, ललितपुर  
५००/- श्री सुरेशकुमारजी जैन, ललितपुर  
३००/- स्व.श्री ऋषभकुमारजी सुरेशकुमारजी जैन, पिडावा  
२५१/- श्रीमती आशा शांतिकुमारजी पाटील, जयपुर  
२५१/- श्री पदमचंदजी जैन  
२५१/- श्री महावीरप्रसादजी जैन  
२५१/- श्री शांतिनाथजी सोनाज अकलूज  
२५१/- श्री अनिलकुमारजी शांतिनाथजी सोनाज, अकलूज  
२५१/- श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भूसावल  
२५१/- श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प.श्री पूनमचंदजी छबड़ा इन्दौर  
२५१/- श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचंदजी पाटनी, लाँडनू  
२५१/- श्रीमती भँवरीदेवी ध.प.स्व.श्री घीसालालजी छबड़ा  
२५१/- स्व. श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुंबई  
२५१/- श्री ललितकुमारजी जैन, जबलपुर  
१११/- श्री चौधरी फूलचंदजी जैन, मुंबई  
१११/- श्रीमती स्नेहलता शांतिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा  
१११/- श्रीमती ममतादेवी अजितकुमारजी जैन, भीलवाड़ा  
१०१/- श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी  
१०१/- श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर  
१०१/- स्व. शांतिदेवी माणकचंदजी पाटोदी, गोहाटी  
११७०० /- कुल राशि

## प्रकाशकीय

देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान महावीर के २६ सौ वें जन्मकल्याणक वर्ष में यह लघु कृति 'सूक्तिसंग्रह' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। जीवन संवारने हेतु यह कृति संजीवनी बूटी के सदृश है, जो 'सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर, देखन में छोटे लगत, घाव करें गंभीर' कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं।

पुस्तक में प्रकाशित सूक्तियों का संकलन आचार्य वादीभसिंह विरचित 'क्षत्रचूड़ामणि' ग्रंथ से ब्र. यशपालजी ने बहुत ही श्रमपूर्वक किया है, उनके इस कार्य की जितनी प्रशंसा की जाए कम है।

संग्रहीत सूक्तियाँ जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक हैं। यदि इनका अध्ययन कर उन पर चिन्तन-मनन किया जाए तो निश्चित ही भावों में निर्मलता एवं जीवन में शुचिता आए बिना नहीं रहेगी।

कृति के सम्पादक ब्र. यशपालजी ने जब से प्रकाशन के कार्य में रुचि लेना प्रारंभ किया है, तभी से उनके सम्पादन में अनेक लोकोपयोगी संग्रहों का प्रकाशन हुआ है। सभी प्रकाशन एक से बढ़कर एक हैं। वे शतायु हों और इसीप्रकार साहित्य सेवा में संलग्न रहकर बिखरे वैभव को संजोकर हमें उपलब्ध कराते रहें, ऐसी भावना है।

पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सदा की भांति प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाला है। पुस्तक का नयनाभिराम आवरण भी उन्हीं की कल्पनाशीलता का परिणाम है। पुस्तक को अल्पमूल्य में उपलब्ध कराने का श्रेय दान दातारों को है। जिन महानुभावों का भी इस प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, हम सभी का हृदय से आभार मानते हैं।

आप सभी प्रस्तुत प्रकाशन का भरपूर लाभ लें व अपने जीवन को सार्थक बनावें, इसी भावना के साथ -

- नेमीचंद

पाटनी

महामंत्री

## सम्पादकीय

अपने विद्यार्थी जीवन में जब मुझे आचार्य वादीभसिंह विरचित क्षत्रचूडामणि ग्रन्थ अध्यात्मरसिक मुनिराज श्री समन्तभद्र महाराज से पढ़ने का अवसर मिला था, तभी से मेरे मन में यह भावना थी कि इस ग्रन्थ में समागत सूक्तियों एवं सुभाषितों का अलग से प्रकाशन हो। दिसम्बर २००१ में जब यह ग्रन्थ भाषा टीकासहित प्रकाशित हुआ, तब पुनः मेरी यह भावना प्रबल हुई और फलस्वरूप यह कृति आपके करकमलों में है।

‘सूक्ति’ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – सु+ उक्ति; जिसमें ‘सु’ शब्द का अर्थ है – अच्छा अथवा हितकारी और ‘उक्ति’ शब्द का अर्थ है – कथन। इसप्रकार सूक्ति का शाब्दिक अर्थ होता है – हितकारी कथन। इनमें सार्वभौमिक, शाश्वत सत्य, सामाजिक-नैतिक मूल्य, आध्यात्मिक चिन्तन और साहित्यकार के अनुभवों का सार समाहित होता है।

सूक्ति अमूल्य रत्न हैं। पृथ्वी पर तीन रत्न बताए गए हैं – जल, अन्न एवं सुभाषित (सूक्तियाँ)। सूक्ति और सुभाषित दोनों ही उद्देश्यों की अपेक्षा से समान हैं। अन्तर केवल इतना है कि सूक्ति श्लोकार्थ अथवा श्लोक के एक चरण में होती है और सुभाषित पूर्ण श्लोक होता है। ये दोनों मुक्तक काव्य में परिगणित होते हैं। दोनों की पद रचनाएँ पूर्ण होती हैं। इनमें परस्पर सम्बन्ध अपेक्षित नहीं होता। सूक्तियाँ मानव के अन्तर्निहित सौन्दर्य को व्यक्त करती हैं, सामाजिक जीवन को जीने योग्य बनाती हैं और अद्भुत आत्मविश्वास प्रदान कर कार्य करने की प्रेरणा देती हैं।

सूक्तियों का आकार छोटा होता है, किन्तु प्रभाव बहुत बड़ा। इनको कण्ठस्थ करने में कठिनाई नहीं होती है तथा सभी वर्गों के दैनिक जीवन में इनका प्रयोग देखा जाता है। भारतीय वाङ्मय में सूक्तियों का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आ रहा है, इस दृष्टि से संस्कृत जैन साहित्य में क्षत्रचूडामणि एक अनुपम रचना है। इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों पर पद-पद पर सूक्तियों का प्रयोग हुआ है।

इस कृति में सूक्तियाँ यथावत् ग्रन्थानुसार ही दी हैं मात्र उनका हिन्दी अनुवाद

अपने शब्दों में रखा है। सूक्तियाँ अकारादि क्रमानुसार दी हैं, तथा प्रत्येक सूक्ति के अन्त में लम्ब (अध्याय) व श्लोक क्रमांक भी दिया है, जिससे पाठक मूल ग्रन्थ से भी मिलान कर सकें।

लम्ब के क्रमानुसार दिए गए सुभाषितों के प्रकरण में प्रत्येक श्लोक के प्रारम्भ में उसकी विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले प्रसंग-वाक्य अपनी तरफ से जोड़े गए हैं। श्लोक का अन्वयार्थ न करते हुए सीधे सरलार्थ ही दिया है, जिन्हें अन्वयार्थ देखने की जिज्ञासा हो, वे मूल ग्रन्थ से देख सकते हैं।

सूक्ति एवं सुभाषितों के अनुवाद की भाषा को शुद्ध एवं सुगठित बनाने में पण्डित संजयकुमारजी शास्त्री बड़ामलहरा का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। टाइपसेटिंग का कष्टप्रद कार्य वीतराग-विज्ञान (मराठी) के प्रबन्ध सम्पादक पण्डित श्रुतेश सातपुते शास्त्री डोणगाँव ने अत्यन्त सावधानी से किया है – एतदर्थ मैं इन दोनों का हार्दिक आभारी हूँ।

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के होनहार छात्रों को सूक्तियाँ एवं सुभाषित विशेष उपयोगी रहेंगे – यह भावना भी इस कृति के संकलन में रही है; सामान्यजन तो लाभ लेंगे ही।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आचार्य वादीभसिंह की इन सूक्तियों एवं सुभाषितों को जो अपने कण्ठ में रखेगा, उसका जीवन अवश्य सुधरेगा; उसकी चिन्तनशैली निर्मल होगी और उसे अनेक समस्याओं के समाधान भी सहज ही प्राप्त होंगे। जिनवाणी का पठन-पाठन करनेवालों को तो यह कृति विशेष उपयोगी सिद्ध होगी ही।

समाज में काव्यरसिक, गुणग्राही एवं प्रशस्त विचारकों की कमी नहीं है, उनको अच्छे विषय प्रदान करनेवालों की कमी कदाचित् हो सकती है।

सभी पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे स्वयं इसे पढ़ें और अन्य लोगों को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करें।

अस्तु!

– ब्र. यशपाल जैन

## अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय	३	‘म’	२८
संपादकीय	४/५	‘म-य’	२९
सूक्तियाँ		‘य-र’	३०
‘अ’	७-१०	‘ल-व’	३१
‘अ-आ’	११	‘व’	३२-३३
‘आ-इ-ई-उ-ए’	१२	‘व-श-श्र-स’	३४
‘ए-ऐ-क’	१३	‘स’	३५-३७
‘क’	१४	‘स-ह’	३८
‘क-ख-ग’	१५	‘ह-त्र-ज्ञ’	३९
‘च-ज-त’	१६	सुभाषित	
‘त-द’	१७	लम्ब-१	४०
‘द-ध’	१८	लम्ब-२	४७
‘ध-न’	१९	लम्ब-३	५४
‘न’	२०-२२	लम्ब-४	५६
‘न-प’	२३	लम्ब-५	५७
‘प’	२४-२५	लम्ब-६	५९
‘प-फ-ब-भ’	२६	लम्ब-७	६४
‘भ’	२७	लम्ब-९-१०	६८
		लम्ब-११	६९

आचार्य वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणि ग्रन्थ से

संकलित

## सूक्तिसंग्रह

‘अ’

१. अकुतोभीतिता भूमेर्भूपानामाज्ञयान्यथा ॥३/४२॥  
राजाओं की आज्ञा से भूमण्डल पर कहीं से भी भय नहीं रहता ।
२. अङ्गजायां हि सूत्यायामयोग्यं कालयापनम् ॥३/३८॥  
कन्या के जवान हो जाने पर विवाह के बिना काल बिताना अनुचित है ।
३. अङ्गारसदृशी नारी नवनीतसमा नराः ॥७/४१॥  
स्त्री अंगारे के समान तथा पुरुष मक्खन के समान हैं ।
४. अजलाशयसम्भूतममृतं हि सतां वचः ॥२/५१॥  
सज्जनों के वचन जलाशय के बिना ही उत्पन्न हुए अमृत के समान हैं ।
५. अञ्जसा कृतपुण्यानां न हि वाञ्छापि वञ्चिता ॥८/६७॥  
सच्चे पुण्यवान् पुरुषों की इच्छा भी विफल नहीं होती ।
६. अतर्क्यं खलु जीवानामर्थसञ्चयकारणम् ॥३/१२॥  
मनुष्यों के धन संचय का कारण कल्पनातीत है ।
७. अतर्क्यसम्पदापद्भ्यां विस्मयो हि विशेषतः ॥१०/४६॥  
अकस्मात् सम्पत्ति और विपत्ति के आने से विशेषरूप से आश्चर्य होता है ।
८. अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥३/६॥  
दरिद्रता मनुष्य के लिए प्राणों के निकले बिना ही जीवित मरण है ।
९. अत्युत्कटो हि रत्नांशुस्तज्जवेकटकर्मणा ॥११/८४॥

चमकदार रत्न को शाण पर चढ़ाकर उसे और घिसने से वह और अधिक चमकदार हो जाता है।

१०. **अदोषोपहतोऽप्यर्थः परोक्त्वा नैव दूष्यते** ॥४/४६ ॥  
निर्दोष पदार्थ किसी के कहने से ही दूषित नहीं हो जाता।
११. **अदृष्टपूर्वदृष्टौ हि प्रायेणोत्कण्ठते मनः** ॥७/६२ ॥  
मनुष्य का मन पहले नहीं देखी हुई वस्तु को देखने में प्रायः उत्कण्ठित रहता है।
१२. **अन्यैरशङ्कनीया हि वृत्तिर्नीतिज्ञगोचराः** ॥९/१० ॥  
नीतिज्ञ लोगों के व्यवहार में दूसरों को शंका नहीं होती।
१३. **अनवद्या सती विद्या फलमूकापि किं भवेत्** ॥९/९ ॥  
निर्दोष और समीचीन विद्या कभी भी निष्फल होती है क्या ?
१४. **अनवद्या सती विद्या लोके किं न प्रकाशते** ॥४/१९ ॥  
१. लोक में उत्तम एवं निर्दोष विद्या प्रसिद्ध नहीं होती है क्या ?  
२. लोक में उत्तम एवं निर्दोष विद्या किसको प्रकाशित नहीं करती ?
१५. **अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा** ॥३/४५ ॥  
निर्दोष विद्या इस लोक और पर लोक में उत्तम फल देनेवाली होती है।
१६. **अनपायादुपायाद्धि वाञ्छिताभिर्मनीषिणाम्** ॥९/७ ॥  
बुद्धिमानों को इच्छित वस्तु की प्राप्ति अमोघ उपायों से होती है।
१७. **अनुनयो हि माहात्म्यं महतामुपबृंहयेत्** ॥८/५२ ॥  
विनयभाव महापुरुषों की महानता को बढ़ाता है।
१८. **अनुरागकृदज्ञानां वशिनां हि विरक्तये** ॥७/३६ ॥  
मूर्खों को प्रिय लगनेवाली वस्तु जितेन्द्रिय पुरुषों को विराग के लिए होती है।
१९. **अनुसारप्रियो न स्यात्को वा लोके सचेतनः** ॥७/७२ ॥  
दुनिया में कौन प्राणी अपने अनुकूल व्यक्ति से प्रेम नहीं करता ?
२०. **अन्तस्तत्त्वस्य याथात्म्ये न हि वेषो नियामकः** ॥९/२१ ॥  
बाह्य वेष अन्तर्मन की यथार्थता का नियामक नहीं है।
२१. **अन्यरोधि न हि क्वापि वर्तते वशिनां मनः** ॥९/२ ॥

जितेन्द्रिय पुरुषों का मन/विचार दूसरों से रुकनेवाला नहीं होता।

२२. **अन्याभ्युदयखिन्नत्वं तद्धि दौर्जन्यलक्षणम्** ॥३/४८ ॥  
दूसरे की उन्नति में जलना ही दुर्जनता का लक्षण है।
२३. **अन्तिकं कृतपुण्यानां श्रीरन्विष्य हि गच्छति** ॥३/४६ ॥  
लक्ष्मी पुण्यवान पुरुषों को खोजती हुई स्वयं उनके पास चली जाती है।
२४. **अन्यैरशङ्कनीया हि वृत्तिर्नीतिज्ञगोचराः** ॥९/१० ॥  
नीतिज्ञ लोगों के व्यवहार में किन्हीं को भी शंका नहीं होती।
२५. **अपथघ्नी हि वाग्गुरोः** ॥२/४० ॥  
गुरु के वचन कुमार्ग के नाशक होते हैं।
२६. **अपदानमशक्तानामद्भुताय हि जायते** ॥७/६५ ॥  
स्वयं के लिए अशक्य कार्य दूसरों द्वारा कर दिया जाना असमर्थ लोगों को आश्चर्य के लिए होता है।
२७. **अपदोषानुषङ्गा हि करुणा कृतिसम्भवा** ॥७/३४ ॥  
विद्वानों की करुणा निर्दोष होती है।
२८. **अपश्चिमफलं वक्तुं निश्चितं हि हितार्थिनः** ॥७/५४ ॥  
दूसरों का हित चाहनेवाले सज्जन पुरुष निश्चितरूप से सर्वोत्तम फलदायक बात (तत्त्वज्ञान) ही कहना चाहते हैं।
२९. **अपुष्कला हि विद्या स्यादवज्ञैकफला क्वचित्** ॥३/४४ ॥  
अपूर्ण ज्ञान अपमान का फल देनेवाला होता है।
३०. **अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां न तु प्राप्ते कदाचन** ॥७/३५ ॥  
स्त्रियों की रुचि अप्राप्त पुरुष में होती है, सहज प्राप्त पति में नहीं।
३१. **अमित्रो हि कलत्रं च क्षत्रियाणां किमन्यतः** ॥८/५९ ॥  
क्षत्रियों (राजाओं) के लिए अपनी स्त्री ही शत्रु हो जाती है तो अन्य लोगों की तो बात ही क्या ?
३२. **अमूलस्य कुतः सुखम्** ॥१/१७ ॥  
मूल हेतु के बिना सुख कैसे हो सकता है ?

३३. अमूलस्य कुतः स्थितिः ॥२/३३ ॥  
जड़रहित वृक्ष की स्थिति कैसे सम्भव है ?
३४. अम्बामदृष्टपूर्वा च द्रष्टुं को नाम नेच्छति ॥८/४९ ॥  
ऐसा कौन व्यक्ति है जो पूर्व में न देखी गई माँ को देखने की इच्छा नहीं करता ?
३५. अयुक्तं खलु दृष्टं वा श्रुतं वा विस्मयावहम् ॥८/७ ॥  
जब मनुष्य अनहोनी/असम्भव जैसी वस्तु को देखता है या सुनता है, तब उसे आश्चर्य होता है ।
३६. अलङ्घ्यं हि पितुर्वाक्यमपत्यैः पथ्यकांक्षिभिः ॥५/१० ॥  
अपना हित चाहनेवाले पुत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते ।
३७. अलं काकसहस्रेभ्य एकैव हि दृषद् भवेत् ॥३/५१ ॥  
हजारों कौओं को उड़ाने के लिए एक ही पत्थर पर्याप्त होता है ।
३८. अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१/१०४ ॥  
पूर्व में बाँधा हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगना पड़ता है ।
३९. अविचारितरम्यं हि रागान्धानां विचेष्टितम् ॥१/१३ ॥  
राग से अन्धे पुरुषों की चेष्टायें बिना विचार के ही अच्छी लगती हैं ।
४०. अविवेकिजनानां हि सतां वाक्यमसङ्गतम् ॥९/१७ ॥  
अविवेकी लोगों के लिए सज्जनों के वचन असंगत लगते हैं ।
४१. अविशेषपरिज्ञाने न हि लोकोऽनुरज्यते ॥१०/५८ ॥  
छोटे-बड़े सभी को समान मानने पर जनसमुदाय सन्तुष्ट नहीं हो सकता ।
४२. अशक्तैः कर्तुमारब्धं सुकरं किं न दुष्करम् ॥७/६३ ॥  
असमर्थ मनुष्य को सरल काम भी कठिन लगता है ।
४३. असतां हि विनम्रत्वं धनुषामिव भीषणम् ॥१०/१४ ॥  
दुर्जनों की नम्रता धनुष की तरह भयंकर होती है ।
४४. असमानकृतावज्ञा पूज्यानां हि सुदुःसहा ॥२/६३ ॥  
छोटे लोगों द्वारा किया गया अपमान बड़े लोगों को असह्य होता है ।
४५. असुमतामसुभ्योऽपि गरीयो हि भृशं धनम् ॥२/७२ ॥

- मनुष्यों को धन अपने प्राणों से भी प्यारा होता है ।
४६. अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां न हि जातु शुभाशुभम् ॥१/२१ ॥  
मनुष्यों को स्वप्न देखे बिना शुभ और अशुभ कार्य नहीं होता ।
४७. अहो पुण्यस्य वैभवम् ॥२/२२ ॥  
पुण्य का वैभव आश्चर्यजनक होता है ।

## ‘आ’

४८. आत्मदुर्लभमन्येन सुलभं हि विलोचनम् ॥१०/३ ॥  
अपने लिए दुष्प्राप्य वस्तु दूसरे को सहजता से मिल जाए तो मनुष्य को आश्चर्य होता है ।
४९. आत्मनीने विनात्मनमञ्जसा न हि कश्चन ॥१०/३१ ॥  
वास्तव में अपने को छोड़कर अन्य कोई अपना हित करनेवाला नहीं है ।
५०. आमोहो देहिनामास्थामस्थानेऽपि हि पातयेत् ॥१०/२४ ॥  
जबतक मोह है, तबतक वह जीवों को अस्थान में भी प्रवृत्ति कराता है ।
५१. आराधनैकसम्पाद्या विद्या न ह्यन्यसाधना ॥७/७४ ॥  
विद्या, गुरु की आराधना करने से ही प्राप्त होती है; अन्य साधनों से नहीं ।
५२. आलोच्यात्मरिक्त्यानां प्राबल्यं हि मतो विधिः ॥१०/१८ ॥  
शत्रु को अपने से अधिक बलवान जानकर ही युद्ध की तैयारी करना चाहिए ।
५३. आवश्यककेऽपि बन्धूनां प्रातिकूल्यं हि शल्यकृत् ॥८/५१ ॥  
आवश्यक कार्य होने पर इष्टजनों की प्रतिकूलता काँटे के समान चुभती है ।
५४. आशाब्धिः केन पूर्यते ॥२/२० ॥  
आशा रूपी समुद्र को कौन भर सकता है ?
५५. आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत् ॥६/५० ॥  
अपने आप प्राप्त होती हुई लक्ष्मी को कौन लात मारता है ?
५६. आ समीहितनिष्पत्तेराराध्याः खलु वैरिणः ॥७/२२ ॥  
अपने अभीष्ट की सिद्धि तक शत्रु भी आराध्य होते हैं ।

५७. आस्थायां हि विना यत्नमस्ति वाक्कायचेष्टितम् ॥८/९ ॥  
प्रेम होने पर प्रयत्न किये बिना ही वचन और शरीर की प्रवृत्ति होती है ।
५८. आस्था सतां यशःकाये न ह्यास्थायिशरीरके ॥१/३७ ॥  
सज्जन पुरुषों की श्रद्धा यशरूपी शरीर में होती है, नश्वर शरीर में नहीं ।

‘इ’

५९. इष्टस्थाने सती वृष्टिस्तुष्टये हि विशेषतः ॥४/४१ ॥  
इष्ट स्थान में होनेवाली वर्षा विशेष आनन्द देनेवाली होती है ।

‘ई’

६०. ईर्ष्या हि स्त्रीसमुद्भवा ॥४/२६ ॥  
ईर्ष्या स्त्रियों से उत्पन्न हुई है ।

‘उ’

६१. उक्तिचातुर्यतो दाढ्यमुक्तार्थे हि विशेषतः ॥९/२७ ॥  
कथन की चतुराई से कहे हुए विषय में विशेष दृढ़ता आती है ।
६२. उत्पथस्थे प्रबुद्धानामनुकम्पा हि युज्यते ॥७/६१ ॥  
मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले मनुष्यों पर बुद्धिमानों की कृपा उचित ही है ।
६३. उदात्तानां हि लोकोऽयमखिलो हि कुटुम्बकम् ॥२/७० ॥  
उदार चरित्रवालों को सम्पूर्ण विश्व कुटुम्ब के समान है ।
६४. उदाराः खलु मन्यन्ते तृणायदं जगत्त्रयम् ॥७/८२ ॥  
उदारचित्त महापुरुष तीन लोक की सम्पत्ति को तृण के समान तुच्छ मानते हैं ।
६५. उपायपृष्ठरूढा हि कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः ॥१०/२३ ॥  
उत्तम उपाय में तत्पर पुरुष कार्य को नियम से सिद्ध करते हैं ।

‘ए’

६६. एककण्ठेषु जाता हि बन्धुता हावतिष्ठते ॥८/३५ ॥  
एकसमान व्यवहार करनेवालों में ही मित्रता स्थिर रहती है ।

६७. एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम् ॥८/३१ ॥  
इकतरफा प्रीति करना मूर्खों की चेष्टा है ।
६८. एकार्थस्पृहया स्पर्धा न वर्धेतात्र कस्य वा ॥४/१६ ॥  
एक ही पदार्थ की इच्छा होने से किसके स्पर्धा नहीं बढ़ती ?
६९. एतादृशेन लिङ्गेन परलोको हि साध्यते ॥४/३९ ॥  
प्रशंसात्मक बातों से अन्य मनुष्य वश में किये जाते हैं ।
७०. एधोगवेषिभिर्भाग्ये रत्नं चापि हि लभ्यते ॥८/३० ॥  
भाग्योदय होने पर लकड़हारे को भी रत्न की प्राप्ति हो जाती है ।
७१. एधोन्वेषिजनैर्दृष्टः किं वा न प्रीतये मणिः ॥१/९६ ॥  
ईन्धन तलाशनेवाले मनुष्यों द्वारा देखी गई मणि क्या प्रसन्नता के लिए नहीं होती ?

‘ऐ’

७२. ऐहिकातिशयप्रीतिरतिमात्रा हि देहिनाम् ॥९/३ ॥  
मनुष्य को सांसारिक उत्कर्ष में ही अधिक प्रेम होता है ।

‘क’

७३. कः कदा कीदृशो न स्याद्भाग्ये सति पचेलिमे ॥७/२९ ॥  
भाग्य के उदय होने पर कौन, कब और कैसा महान बनेगा – यह कह नहीं सकते ।
७४. कणिशोद्गमवैधुर्ये केदारादिगुणेन किम् ॥११/७५ ॥  
पौधों में अन्नोत्पत्ति की सामर्थ्य न होने पर खेत आदि सामग्री अच्छी होने से भी क्या प्रयोजन ?
७५. करुणामात्रपात्रं हि बाला वृद्धाश्च देहिनाम् ॥९/८ ॥  
बालक तथा वृद्ध मात्र दया के पात्र होते हैं ।
७६. काकार्थफलनिम्बोऽपि श्लाघ्यते न हि चूतवत् ॥३/९ ॥  
कौए के लिए नीम का वृक्ष आम के वृक्ष के समान प्रशंसनीय नहीं होता ।
७७. काचो हि याति वैगुण्यं गुण्यतां हारगो मणिः ॥११/२ ॥

- हार में स्थित मणि ही शोभा को प्राप्त होती है, काँच नहीं।
७८. कारणे जृम्भमाणेऽपि न हि कार्यपरिक्षयः ॥११/७२ ॥  
कारण के विद्यमान रहने पर कार्य का विनाश नहीं होता।
७९. कालातिपातमात्रेण कर्तव्यं हि विनश्यति ॥११/७३ ॥  
कार्य करने का उचित समय निकल जाने पर कार्य बिगड़ जाता है।
८०. कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥१४/९ ॥  
रसायन के प्रभाव से लोहा भी सोना बन जाता है।
८१. किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ॥११/३६ ॥  
फलोत्पत्ति का काल आने पर क्या फूलों की प्राप्ति सम्भव है ?
८२. किं न मुञ्चन्ति रागिणः ॥११/७२ ॥  
विषयासक्त मनुष्य क्या-क्या नहीं छोड़ देते हैं ?
८३. किं गोष्पदजलक्षोभी क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥२/५३ ॥  
गाय के खुर-प्रमाण जल को तरंगित करनेवाला छोटा-सा मेंढक क्या समुद्र के जल को तरंगित कर सकता है ?
८४. किं स्यात्किं कृत इत्येवं चिन्तयन्ति हि पीडिताः ॥२/६६ ॥  
कौन-सा कार्य किस फल के लिए होगा - पीड़ित लोग यही विचार करते हैं।
८५. कुत्सितं कर्म किं किं वा मत्सरिभ्यो न रोचते ॥४/१८ ॥  
ईर्ष्या करनेवालों को कौन-कौन से खोटे कार्य अच्छे नहीं लगते ?
८६. कूपे पिपतिषुर्बालो न हि केनाऽप्युपेक्षते ॥६/९ ॥  
कुएँ में गिरते हुए बालक की कोई भी उपेक्षा नहीं करता।
८७. क्रूराः किं किं न कुर्वन्ति कर्म धर्मपराङ्मुखाः ॥४/४ ॥  
धर्म से परांगमुख क्रूर पुरुष क्या-क्या खोटे कार्य नहीं करते ?
८८. कृतार्थानां हि पारार्थ्यमैहिकार्थपराङ्मुखम् ॥७/७६ ॥  
परोपकारी पुरुषों का परोपकार इस लोक सम्बन्धी प्रयोजनों से रहित होता है।
८९. कृतिनोऽपि न गण्या हि वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥८/३२ ॥  
पुण्यवान पुरुषों को समृद्धि-परिवार आदि से रहित नहीं समझना चाहिए।

९०. कृत्याकृत्यविमूढा हि गाढस्नेहान्धजन्तवः ॥२/७३ ॥  
अति स्नेह से अन्धे पुरुष कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार से रहित होते हैं।
९१. कोऽनन्धो लङ्घयेद्गुरुम् ॥२/३९ ॥  
कौन ज्ञानवान शिष्य गुरु के आदेश का उल्लंघन करेगा ?
९२. क्वचित्किमपि सौजन्यं नो चेन्नोक्तः कुतो भवेत् ॥४/३४ ॥  
यदि संसार में कहीं पर भी सज्जनता न रहे तो संसार कैसे चलेगा ?
९३. क्व विद्या पारगामिनी ॥१०/२५ ॥  
विरले व्यक्ति ही परिपूर्ण विद्या के धारी होते हैं।

## ‘ख’

९४. खाताऽपि हि नदी दत्ते पानीयं न पयोनिधिः ॥१०/५३ ॥  
सूख जाने पर भी खोदी हुई नदी ही प्यासों को मीठा जल देती है, समुद्र नहीं।

## ‘ग’

९५. गतेर्वार्ता हि पूर्वगा ॥१०/१७ ॥  
समाचारों की गति अति तेज होती है, वे मनुष्य के पहुँचने के पूर्व ही दूर तक पहुँच जाते हैं।
९६. गत्यधीनं हि मानसम् ॥१/६५ ॥  
मन के विचार भविष्य में होनेवाली गति के अनुसार ही होते हैं।
९७. गर्भाधानक्रियामात्रन्यूनौ हि पितरौ गुरुः ॥२/५९ ॥  
मात्र गर्भाधान क्रिया को छोड़कर गुरु ही शिष्य के लिए माता-पिता हैं।
९८. गात्रमात्रेण भिन्नं हि मित्रत्वं मित्रता भवेत् ॥२/७५ ॥  
शरीर मात्र से भिन्न मित्रपना ही मित्रता कहलाती है।
९९. गुणज्ञो लोक इत्येषा किम्बदन्ती हि सूनृतम् ॥५/१५ ॥  
यह कहावत सत्य है कि मनुष्य गुणग्राही होते हैं।
१००. गुरुरेव हि देवता ॥१/१११ ॥  
गुरु ही देवता है।

१०१. गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥२/२॥

गुरु का प्रेम इच्छाओं को पूरा करनेवाला होता है।

### ‘च’

१०२. चतुराणां स्वकार्योक्तिः स्वन्मुखात्र हि वर्तते ॥८/२३॥

चतुर पुरुष अपने अन्तरंग का अभिप्राय दूसरे के बहाने से ही प्रकट करते हैं।

१०३. चित्रं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी ॥२/१५॥

जैनी तपस्या स्वेच्छाचार की विरोधी है।

१०४. चिरकाङ्क्षितलाभे हि तृप्तिः स्यादतिशायिनी ॥११/१॥

चिरकाङ्क्षित वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर अत्यधिक प्रसन्नता होती है।

१०५. चिरकाङ्क्षितसम्प्राप्त्या प्रसीदन्ति हि देहिनः ॥८/६८॥

चिरकाल से चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर मनुष्य आनन्दित होते ही हैं।

१०६. चिरस्थाय्यन्धकारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति ॥११/७३॥

चिरकाल से व्याप्त अन्धकार भी प्रकाश के होने पर नष्ट हो जाता है।

### ‘ज’

१०७. जठरे सारमेयस्य सर्पिषो न हि सञ्जनम् ॥७/६०॥

कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता।

१०८. जन्मान्तरानुबन्धौ हि रागद्वेषौ न नश्यतः ॥९/३२॥

जन्म-जन्मान्तर से जीव के साथ सम्बन्ध रखनेवाले राग-द्वेष के परिणाम सहज नष्ट नहीं होते।

१०९. जलबुदबुदनित्यत्वे चित्रीया न हि तत्क्षये ॥१/५९॥

पानी के बुलबुलों के देर तक ठहरने में आश्चर्य है, उनके नाश होने में नहीं।

११०. जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम् ॥१/४०॥

पराधीन रहकर जीवन जीने की अपेक्षा मरण ही श्रेष्ठ है।

१११. जीवानां जननीस्नेहो न ह्यन्यैः प्रतिहन्यते ॥८/४८॥

जीवों का मातृ-प्रेम किन्हीं भी कारणों से नष्ट नहीं होता।

### ‘त’

११२. तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः साध्यते हि समीहितम् ॥७/६४॥

उत्साही तथा चतुर लोग अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लेते हैं।

११३. तत्त्वज्ञानतिरोभावे रागादि हि निरङ्कुशम् ॥८/५३॥

तत्त्वज्ञान का तिरोभाव होने पर राग-द्वेषादि निरंकुश हो जाते हैं।

११४. तत्त्वज्ञानजलं नो चेत् क्रोधाग्निः केन शाम्यति ॥५/९॥

यदि तत्त्वज्ञानरूपी जल न हो तो क्रोधरूपी अग्नि किससे बुझेगी ?

११५. तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम् ॥६/२॥

तत्त्वज्ञान से रहित जीवों का दुःख शाश्वत होता है।

११६. तत्त्वज्ञानं हि जागर्ति विदुषामार्तिसम्भवे ॥१/५७॥

पीड़ा होने पर भी विद्वानों का तत्त्वज्ञान स्थिर ही रहता है।

११७. तत्त्वज्ञानं हि जीवानां लोकद्वयसुखावहम् ॥३/१८॥

तत्त्वज्ञान इहलोक और परलोक में जीवों के लिए सुख देनेवाला है।

११८. तन्तवो न हि लूतायाः कूपपातनिरोधिनः ॥१०/४८॥

मकड़ी के जाल के तन्तु कुएँ में गिरते हुए प्राणी को नहीं बचा सकते।

११९. तप्यध्वं तत्तपो यूयं किं मुधा तुषखण्डनैः ॥६/२४॥

तुम सब सर्वज्ञ प्रणीत तप तपो, व्यर्थ में भूसा कूटने से क्या लाभ ?

१२०. तमो ह्यभेद्यं खद्योतैर्भानुना तु विभिद्यते ॥२/७१॥

जो अन्धकार जुगनुओं के लिए अभेद्य है, उसे सूर्य द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

१२१. तीरस्थाः खलु जीवन्ति न हि रागाब्धिगाहिनः ॥८/१॥

रागरूपी समुद्र के किनारे रहनेवाले लोग जीवित रहते हैं, उसमें गोते लगानेवाले नहीं।

### ‘द’

१२२. दग्धभूम्युप्तबीजस्य न हाङ्कुरसमर्थता ॥१/६२ ॥  
जली हुई भूमि में बोये गये बीज में अंकुर पैदा करने की सामर्थ्य नहीं होती ।
१२३. दानपूजातपःशीलशालिनां किं न सिध्यति ॥१०/१९ ॥  
दान, पूजा, तप और शील से सम्पन्न मनुष्य को क्या सिद्ध नहीं होता ?
१२४. दीपनाशे तमोराशिः किमाह्वानमपेक्षते ॥१/५८ ॥  
दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार का समूह क्या निमन्त्रण की अपेक्षा रखता है?
१२५. दुःखचिन्ता हि तत्क्षणे ॥१/३२ ॥  
दुःख की चिन्ता दुःख के समय ही रहती है ।
१२६. दुःखस्यानन्तरं सौख्यं ततो दुःखं हि देहिनाम् ॥४/३६ ॥  
प्राणियों को दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख होता ही रहता है ।
१२७. दुःखस्यानन्तरं सौख्यमतिमात्रं हि देहिनाम् ॥३/३५ ॥  
प्राणियों को दुःख के बाद का सुख अत्यधिक अच्छा लगता है ।
१२८. दुःखार्थोऽपि सुखार्थो हि तत्त्वज्ञानधने सति ॥३/२१ ॥  
तत्त्वज्ञानरूपी धन के होने पर दुःखदायक पदार्थ भी सुख का हेतु होता है ।
१२९. दुर्जनाग्रे हि सौजन्यं कर्दमे पतितं पयः ॥१०/१५ ॥  
दुष्ट मनुष्य के सामने सज्जनता की चढ़ में दूध डालने के समान है ।
१३०. दुर्जनेऽपि हि सौजन्यं सुजनैर्यदि सङ्गमः ॥१०/१३ ॥  
यदि सज्जनों की संगति होवे तो दुर्जन में भी सज्जनता आ जाती है ।
१३१. दुर्बला हि बलिष्ठेन बाध्यन्ते हन्त संसृतौ ॥१०/३७ ॥  
खेद है ! संसार में बलवान जीव दुर्बल के लिए बाधायें उत्पन्न करता है ।
१३२. दुर्लभो हि वरो लोके योग्यो भाग्यसमन्वितः ॥४/४४ ॥  
लोक में भाग्यशाली एवं योग्य वर मिलना अत्यन्त दुर्लभ है ।
१३३. दैवतेनापि पूज्यन्ते धार्मिकाः किं पुनः परैः ॥५/४१ ॥  
धार्मिक पुरुष देवों के द्वारा भी पूज्य होते हैं; तो दूसरों की बात ही क्या ?
१३४. दोषं नार्थी हि पश्यति ॥१/५२ ॥  
कार्य की सफलता का इच्छुक मनुष्य दोष को नहीं देखता ।

## ‘ध’

१३५. धनाशा कस्य नो भवेत् ॥३/२ ॥  
धन की इच्छा किसके नहीं होती ?
१३६. धर्मो हि भुवि कामसूः ॥११/७८ ॥  
इस संसार में धर्म सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला है ।
१३७. धार्मिकाणां शरण्यं हि धार्मिका एव नापरे ॥२/१७ ॥  
धर्मात्माओं के सहायक धर्मात्मा ही होते हैं; अन्य नहीं ।
१३८. ध्यातेऽपि हि पुरा दुःखे भृशं दुःखायते जनः ॥८/१३ ॥  
पहले भोगे हुए दुःखों के स्मरण मात्र से मनुष्य अत्यधिक दुःखी होता है ।
१३९. ध्यातो गरुडबोधेन न हि हन्ति विषं बकः ॥६/२३ ॥  
गरुड़ मानकर बगुले का ध्यान करने से विष दूर नहीं होता ।

## ‘न’

१४०. नटायन्ते हि भूभुजः ॥१/१५ ॥  
राजा नट के समान आचरण करते हैं ।
१४१. न विद्यते हि विद्यायामगम्यं रम्यवस्तुषु ॥७/५५ ॥  
विद्या के होने पर कोई भी सुन्दर वस्तु अलभ्य नहीं है ।
१४२. न विभेति कुतो लोक आजीवनपरिक्षये ॥२/६५ ॥  
आजीविका के साधन छिन जाने पर मनुष्य अत्यन्त भयभीत हो जाता है ।
१४३. न हि कार्यपराचीनैर्मृग्यते भुवि कारणम् ॥६/१५ ॥  
संसार में कार्य से विमुख पुरुष कारण की खोज नहीं करते ।
१४४. न हि खादापतन्ती चेद्रत्नवृष्टिर्निवार्यते ॥११/१७ ॥  
यदि आकाश से रत्नवृष्टि हो रही हो तो उसे रोका नहीं जाता ।
१४५. न हि तण्डुलपाकः स्यात्पावकादिपरिक्षये ॥११/६६ ॥  
अग्नि आदिक न होने पर चावलों का पकना नहीं होता ।
१४६. न हि तिष्ठति राजसम् ॥१/५५ ॥  
क्षत्रियतेज शान्त नहीं रह पाता ।

१४७. न हि नादेयतोयेन तोयधेरस्ति विक्रिया ॥११/३॥  
नदी के जल से समुद्र में विकार नहीं होता ।
१४८. न हि नीचमनोवृत्तिरेकरूपास्थिता भवेत् ॥४/४५॥  
नीच मनुष्यों की मनोवृत्ति सदैव एक-सी स्थिर नहीं रहती ।
१४९. न हि प्रसादखेदाभ्यां विक्रियन्ते विवेकिनः ॥८/२५॥  
विवेकी पुरुष हर्ष-विषाद से विकार को प्राप्त नहीं होते ।
१५०. न हि प्राणवियोगेऽपि प्राज्ञैर्लङ्घ्यं गुरोर्वचः ॥५/१३॥  
बुद्धिमान मरण उपस्थित होने पर भी गुरु के वचनों का उल्लंघन नहीं करते ।
१५१. न हि भेद्यं मनः स्त्रियाः ॥४/२७॥  
स्त्रियों का मन भेद्य नहीं है ।
१५२. न हि मातुः सजीवेन सोढव्या स्याद्दुरासिका ॥८/६१॥  
माता की दुःखी अवस्था किसी भी सचेतन के लिए सह्य नहीं होती ।
१५३. न हि मुग्धा सतां वाक्यं विश्वसन्ति कदाचन ॥७/२॥  
भोले लोग सज्जनों की बात का कभी-कभी विश्वास नहीं करते ।
१५४. न हि रक्षितुमिच्छन्तो निर्दहन्ति फलद्रुमम् ॥१/२९॥  
फल सहित वृक्ष के रक्षक उस वृक्ष को नहीं जलाते ।
१५५. न हि वारणपर्याणं भर्तुं शक्तो वनायुजः ॥७/२०॥  
सर्वाधिक शक्तिशाली घोड़ा हाथी जितना भार ढोने में समर्थ नहीं होता ।
१५६. न हि वारयितुं शक्यं पौरुषेण पुराकृतम् ॥५/११॥  
पूर्वकृत दुष्कर्म का पुरुषार्थ से निवारण करना सम्भव नहीं ।
१५७. न हि वेद्यो विपत्क्षणः ॥३/१३॥  
आपत्ति का समय अज्ञात होता है ।
१५८. न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत् ॥२/४९॥  
पदार्थों के विनाश के समान उनका उत्पन्न करना सरल नहीं है ।
१५९. न हि सन्तीह जन्तूनामपाये सति बान्धवाः ॥४/३०॥  
दुनिया में आपत्ति आ जाने पर प्राणियों का कोई सहायक नहीं रहता ।

१६०. न हि सोढव्यतां याति तिरश्चां वा तिरस्क्रिया ॥५/२॥  
तिर्यञ्चों को भी अपना अपमान सह्य नहीं होता ।
१६१. न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥६/१८॥  
चावलरूप उपादान कारण बिना मात्र बटलोई आदि निमित्त कारणों से साध्यभूत पका चावल प्राप्त नहीं हो सकता ।
१६२. न हि स्ववीर्यगुप्तानां भीतिः केसरिणामिव ॥५/३२॥  
पराक्रमी सिंह के समान स्वपराक्रम से ही रक्षित पुरुषों को भय नहीं रहता ।
१६३. न ह्यकालकृतं कर्म कार्यनिष्पादनक्षमम् ॥४/२३॥  
असमय में किया गया परिश्रम कार्यकारी नहीं होता ।
१६४. न ह्यङ्गुलिरसाहाय्या स्वयं शब्दायतेतराम् ॥१/६४॥  
एक ही अँगुली से चुटकी नहीं बजती ।
१६५. न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे ॥४/२५॥  
ईर्ष्या से मलिन चित्तवाले व्यक्ति को सच्ची बात भी अच्छी नहीं लगती ।
१६६. न ह्यनिष्टेष्टसंयोगवियोगाभमरुन्दुदम् ॥४/२८॥  
अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग के समान और कोई पीड़ा देनेवाला नहीं ।
१६७. न ह्यमन्त्रं विनिश्चेयं निश्चिते च न मन्त्रणम् ॥१०/१०॥  
बिना विचार किये कोई भी कार्य निश्चित नहीं करना चाहिए तथा निश्चित हो जाने पर पुनः विचार नहीं करना चाहिए ।
१६८. न ह्ययोग्ये स्पृहा सताम् ॥२/७४॥  
सज्जन पुरुष की इच्छा अनुचित पदार्थ में नहीं होती ।
१६९. न ह्यारोढुमधिश्रेणिं यौगपद्येन पार्यते ॥७/२१॥  
ऊँची नसैनी पर एक ही साथ चढ़ने में कोई समर्थ नहीं है ।
१७०. न ह्यासक्त्या तु सापेक्षो भानुः पद्मविकासने ॥१०/४४॥  
सूर्य कमलों को खिलाने के बाद अनासक्ति से अस्ताचल की ओर जाता है ।
१७१. न ह्यसत्यं सतां वचः ॥९/१६॥  
सज्जनों के वचन असत्य नहीं होते ।

१७२. न ह्यस्थानेऽपि रुट् सताम् ॥१०/५५ ॥  
सज्जनों का क्रोध अनुचित स्थान में नहीं होता ।
१७३. नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यति मानसम् ॥७/३० ॥  
सज्जन पुरुष दान देने में प्रसन्न होते हैं, लेने में नहीं ।
१७४. निरङ्कुशं हि जीवानामैहिकोपायचिन्तनम् ॥३/३ ॥  
मनुष्यों के इस लोक सम्बन्धी आजीविका के उपाय का चिन्तन निराबाध ही हो जाता है ।
१७५. निर्गमे चाप्रवेशे च धाराबन्धे कुतो जलम् ॥११/६४ ॥  
सरोवर में से संचित जल के निकल जाने पर और नवीन जल के नहीं आने पर उसमें पानी कैसे रह सकता है ?
१७६. निर्वाणपथपान्थानां पाथेयं तद्धि किं परैः ॥४/८ ॥  
अधिक क्या कहें ! णमोकार मन्त्र मुक्तिपथ के पथिकों के लिए कलेवा है ।
१७७. निर्विवादविधिर्नो चेन्नैपुण्यं नाम किं भवेत् ॥४/२२ ॥  
यदि निर्विवाद युक्ति न हो तो निपुणता किस बात की ?
१७८. निर्व्याजं सानुकम्पा हि सार्वार्वाः सर्वेषु जन्तुषु ॥६/८ ॥  
सर्वहितैषी सज्जन पुरुष समस्त प्राणियों पर निष्कपट दया करते हैं ।
१७९. निश्चलादविसंवादाद्वस्तुनो हि विनिश्चयः ॥१/९४ ॥  
निश्चल और विवादरहित वचनों से वस्तु का निश्चय होता है ।
१८०. निष्प्रत्यूहा हि सामग्री नियतं कार्यकारिणी ॥२/५८ ॥  
बाधारहित कारण-सामग्री नियम से कार्य को पूरा करनेवाली होती है ।
१८१. निसर्गादिङ्गितज्ञानमङ्गनासु हि जायते ॥७/४४ ॥  
शरीर की चेष्टा से मन के विचारों को जानने का इंगित/संकेत ज्ञान स्त्रियों में स्वभाव से ही होता है ।
१८२. निःस्पृहत्वं तु सौख्यम् ॥११/६७ ॥  
इच्छा का अभाव ही सुख है ।
१८३. निर्हेतुकान्यरक्षा हि सतां नैसर्गिको गुणः ॥५/४३ ॥

बिना कारण ही दूसरों की रक्षा करना सज्जन पुरुषों का स्वाभाविक गुण है ।

१८४. नीचत्वं नाम किं नु स्यादस्ति चेद् गुणरागिता ॥५/५ ॥  
यदि दूसरों के गुणों में प्रीति हो तो नीचता कैसे टिके ?
१८५. नैसर्गिकं हि नारीणां चेतः सम्मोहि चेष्टितम् ॥८/४ ॥  
स्त्रियों की चेष्टाएँ स्वभाव से ही चित्त को मोहित करनेवाली होती हैं ।
१८६. नो चेद्विवेकनीरौघो रागाग्निः केन शाम्यति ॥४/३७ ॥  
यदि विवेकरूपी जल-समूह न हो तो रागरूपी अग्नि कैसे शान्त होगी ?

## ‘प’

१८७. पतन्तः स्वयमन्येषां न हि हस्तावलम्बनम् ॥६/२५ ॥  
स्वयं गिरते हुए लोग दूसरों का सहारा नहीं हो सकते ।
१८८. पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्धनम् ॥५/६ ॥  
सर्प को पिलाया गया दूध विष की ही वृद्धि करता है ।
१८९. पम्फुलीति हि निर्वेगो भव्यानां कालपाकतः ॥२/९ ॥  
काल पक जाने पर भव्यजीवों को विशेषरूप से वैराग्य प्रकट होता है ।
१९०. पयो ह्यास्यगतं शक्यं पाननिष्ठीवनद्वये ॥१/५४ ॥  
मुँह में रखे हुए दूध अथवा जल की परिणति थूकने या पीने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकती ।
१९१. परस्परतिशायी हि मोहः पञ्चेन्द्रियोद्भवः ॥९/२३ ॥  
पाँचो इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला मोह एक-दूसरे की अपेक्षा अधिक होता है ।
१९२. पराभवो न हि सोढव्योऽशक्तैः शक्तैस्तु किं पुनः ॥८/२९ ॥  
अपने तिरस्कार को असमर्थ जन भी सहन नहीं कर पाते तो फिर समर्थ पुरुष कैसे सहन करेंगे ?
१९३. पाके हि पुण्यपापानां भवेद्बाह्यं च कारणम् ॥११/१४ ॥  
पाप और पुण्य के उदय आने में कोई न कोई बाह्य निमित्त कारण अवश्य

- मिल जाता है ।
१९४. पाण्डित्यं हि पदार्थानां गुणदोषविनिश्चयः ॥४/२० ॥  
पदार्थों के गुण और दोषों का निर्णय करना ही पाण्डित्य है ।
१९५. पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥२/४५ ॥  
हाथ में दीपक होने पर भी कुएँ में गिरनेवाले व्यक्ति को दीपक से क्या लाभ ?
१९६. पात्रतां नीतमात्मानं स्वयं यान्ति हि सम्पदः ॥५/४८ ॥  
सम्पत्ति स्वयं ही योग्य पुरुषों के पास जाती है ।
१९७. पापात् बिभ्यतु पण्डिताः ॥१/८७ ॥  
विद्वानों को पाप से डरना चाहिए ।
१९८. पावके न हि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये ॥१/३० ॥  
गर्मी से होनेवाले दुःख को दूर करने के लिए अग्नि में कूदना उपाय नहीं है ।
१९९. पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात् ॥६/४ ॥  
सत्पुरुषों के आश्रय से स्थान भी पवित्र हो जाते हैं ।
२००. पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते ॥१/५१ ॥  
पित्तज्वरवाले मनुष्य को मीठा दूध कड़वा ही लगता है ।
२०१. पीडायां तु भृशं जीवा अपेक्षन्ते हि रक्षकान् ॥८/२७ ॥  
कष्ट/पीड़ा होने पर ही लोग रक्षकों की अपेक्षा करते हैं ।
२०२. पीडा ह्यभिनवा नृणां प्रायो वैराग्यकारणम् ॥१/७१ ॥  
नई पीड़ा प्रायः मनुष्यों के वैराग्य का कारण बनती है ।
२०३. पुत्रमात्रं मुदे पित्रोर्विद्यापात्रं तु किं पुनः ॥७/७८ ॥  
माता-पिता को पुत्र ही हर्ष का कारण होता है, फिर विद्वान पुत्र का तो कहना ही क्या ?
२०४. पुण्ये किं वा दुरासदम् ॥१/८९ ॥  
पुण्योदय होने पर क्या दुर्लभ है ?
२०५. पूज्यत्वं नाम किं नु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥५/४५ ॥

- पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन होने पर पूज्यपना कैसे कायम रह सकता है ?
२०६. प्रकृत्या स्यादकृत्ये धीर्दुःशिक्षायां तु किं पुनः ॥३/५० ॥  
बुद्धि स्वभाव से ही खोटे कार्यों में प्रवृत्त होती है; फिर खोटी शिक्षा मिलने पर तो उसका कहना ही क्या ?
२०७. प्रजानां जन्मवर्जं हि सर्वत्र पितरौ नृपाः ॥११/४ ॥  
जन्म देने के अलावा सर्वत्र राजा ही प्रजा के माता-पिता हैं ।
२०८. प्रतारणविधौ स्त्रीणां बहुद्वारा हि दुर्मतिः ॥७/४५ ॥  
स्त्रियों की खोटी बुद्धि दूसरों को ठगने में अनेक प्रकार से चलती है ।
२०९. प्रतिकर्तुं कथं नेच्छेदुपकर्तुः सचेतनः ॥४/१४ ॥  
सचेतन प्राणी उपकार करनेवाले के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना क्यों नहीं रखेगा ?
२१०. प्रतिहन्तुं न हि प्राज्ञैः प्रारब्धं पार्यते परैः ॥६/३ ॥  
बुद्धिमानों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य दूसरों द्वारा रोका जाना सम्भव नहीं है ।
२११. प्रत्यक्षे च परोक्षे च सन्तो हि समवृत्तिकाः ॥७/३२ ॥  
सज्जन पुरुष सामने और पीछे समान व्यवहार करते हैं ।
२१२. प्रदीपैर्दीपिते देशे न ह्यास्ति तमसो गतिः ॥१/३१ ॥  
दीपकों से प्रकाशित स्थान पर अन्धकार का आगमन ही नहीं होता ।
२१३. प्रभूणां प्राभवं नाम प्रणतेष्वेकरूपता ॥६/३९ ॥  
विनयशील जनों के प्रति समान व्यवहार करना महापुरुषों की महानता है ।
२१४. प्रयत्नेन हि लब्धं स्यात्प्रायः स्नेहस्य कारणम् ॥५/१ ॥  
परिश्रम से प्राप्त वस्तु प्रायः स्नेह का कारण होती है ।
२१५. प्राणप्रदायिनामन्या न ह्यास्ति प्रत्युपक्रिया ॥५/४४ ॥  
प्राण रक्षा करनेवालों का दूसरा कोई प्रत्युपकार नहीं होता ।
२१६. प्राणप्रयाणवेलायां न हि लोके प्रतिक्रिया ॥२/५७ ॥  
संसार में प्राण निकलने के समय में मृत्यु रोकने का कोई उपाय नहीं होता ।

२१७. प्राणवत्प्रीतये पुत्रा मृतोत्पन्नास्तु किं पुनः ॥१/९९ ॥  
पुत्र तो प्राणों के समान प्रिय होते हैं, फिर जो मरकर पुनः जीवित हो जाए उसका तो कहना ही क्या ?
२१८. प्राणाः पाणिगृहीतीनां प्राणनाथो हि नापरम् ॥७/३ ॥  
विवाहिता स्त्रियों के प्राण उनके पति ही होते हैं; और कोई नहीं।
२१९. प्राणेष्वपि प्रमाणं यत्तद्धि मित्रमितीष्यते ॥३/३७ ॥  
जो प्राणों से भी अधिक प्रामाणिक हो, वही सच्चा मित्र है।
२२०. प्रीतये हि सतां लोके स्वोदयाच्च परोदयः ॥६/३० ॥  
सज्जनों को अपनी उन्नति से भी दूसरों की उन्नति अधिक आनन्ददायी होती है।
२२१. प्रेक्षावन्तो वितन्वन्ति न ह्युपेक्षामपेक्षिते ॥४/४२ ॥  
बुद्धिमान पुरुष अपेक्षित वस्तु की उपेक्षा नहीं करते।

### ‘फ’

२२२. फलमेव हि यच्छन्ति पनसा इव सज्जनाः ॥१०/४२ ॥  
सज्जन मनुष्य ‘कटहल’ के वृक्ष के समान फल को ही देते हैं।

### ‘ब’

२२३. बकायन्ते हि जिष्णवः ॥१०/१६ ॥  
विजय पाने के इच्छुक लोग बगुले के समान आचरण करते हैं।
२२४. बन्धोर्बन्धौ च बन्धो हि बन्धुता चेदवश्रिता ॥८/२६ ॥  
यदि निष्कपट बन्धुत्व का भाव हो तो सम्बन्धी के सम्बन्धियों में भी प्रेम हो जाता है।
२२५. बहुद्वारा हि जीवानां पराराधनदीनता ॥९/४ ॥  
प्राणियों के दूसरों की सेवा से प्रकट होनेवाली दीनता बहुत प्रकार की होती है।
२२६. बहुयत्नोपलब्धस्य प्रच्यवो हि दुरुत्सहः ॥७/४ ॥  
बहुत प्रयत्नपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु का वियोग असह्य होता है।
२२७. बहुयत्नोपलब्धे हि प्रेमबन्धो विशिष्यते ॥१०/१ ॥

- दुर्लभता से प्राप्त हुई वस्तु के प्रति विशेष प्रेम हुआ करता है।
२२८. बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥१/१९ ॥  
बुद्धि कर्म के अनुसार चलती है।
- ### ‘भ’
२२९. भवितव्यानुकूलं हि सकलं कर्म देहिनाम् ॥९/२० ॥  
प्राणियों के समस्त कार्य होनहार के अनुसार होते हैं।
२३०. भव्यो वा स्यान्न वा श्रोता पारार्थ्यं हि सतां मनः ॥६/१० ॥  
श्रोता भव्य हो अथवा न हो, सज्जनों की भावना सबका उपकार करने की ही होती है।
२३१. भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात्परो जनः ॥११/७६ ॥  
राख के लिए रत्न को जलानेवाले व्यक्ति से बढ़कर मूर्ख दूसरा कौन है ?
२३२. भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते ॥११/१८ ॥  
पण्डित लोग राख के लिए रत्नहार को नहीं जलाते।
२३३. भागधेयविधेया हि प्राणिनां तु प्रवृत्तयः ॥७/७ ॥  
प्राणियों की प्रवृत्तियाँ भवितव्यानुसार ही होती हैं।
२३४. भाग्ये जाग्रति का व्यथा ॥१/१०९ ॥  
भाग्योदय होने पर कौन-सा दुःख रहता है ?
२३५. भानुः किं न तमोहरः ॥१०/२६ ॥  
क्या सूर्य अन्धकार को नष्ट नहीं कर पाता ?
२३६. भानुलोकं तपन्कुर्याद्विकासश्रियमम्बुजे ॥५/२५ ॥  
संसार को सन्तप्त करनेवाला सूर्य कमल की कलियों को खिलाता है।
२३७. भाव्यधीनं हि मानसम् ॥५/२९ ॥  
मन भवितव्यानुसार होता है।
२३८. भ्रातुर्विलोकनं प्रीत्यै विप्रयुक्तस्य किं पुनः ॥८/१० ॥  
भाई को देखना ही प्रसन्नता का कारण है, फिर बिछुड़े हुए भाई से मिलने पर तो कहना ही क्या ?

२३९. भेजे शुभनिमित्तेन सनिमित्ता हि भाविनः ॥५/४२ ॥  
भविष्य में होनेवाले उत्तम कार्य शुभ निमित्तपूर्वक होते हैं।
२४०. भेतव्यं खलु भेतव्यं प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥७/४३ ॥  
अज्ञानियों के उचित कार्यों से ज्ञानी मनुष्यों को भयभीत रहना चाहिए।
२४१. भाव्यवश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते ॥१०/४९ ॥  
भविष्य में जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहता है; किसी से भी टाला नहीं जा सकता।

### ‘म’

२४२. मत्सराणां हि नोदेति वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम् ॥१०/३५ ॥  
ईर्ष्यालु मनुष्यों के वस्तुस्वरूप का विचार नहीं होता।
२४३. मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम् ॥३/२६ ॥  
मोहकर्म रहने तक बीच-बीच में योगियों के परिणामों में भी चंचलता रहती है।
२४४. मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्वि पापिनाम् ॥१/४३ ॥  
पापियों के मन में कुछ होता है, वचन में कुछ अन्य तथा वे शरीर से कुछ दूसरा ही कार्य करते हैं।
२४५. मनीषितानुकूलं हि प्रीणयेत्प्राणिनां मनः ॥९/२९ ॥  
मनोरथ के अनुकूल उपाय को दिखाना ही प्राणियों के मन को प्रसन्न करता है।
२४६. मनोरथेन तृप्तानां मूललब्धौ तु किं पुनः ॥९/३० ॥  
मनोरथ से सन्तुष्ट होनेवाले मनुष्यों को यदि मूल पदार्थ मिल जाए तो फिर कहना ही क्या है ?
२४७. ममत्वधीकृतो मोहः सविशेषो हि देहिनाम् ॥८/६४ ॥  
ममत्व बुद्धि से प्राणियों को मोह अधिक होता है।
२४८. मरुत्सखे मरुद्भूते मह्यां किं वा न दह्यते ॥१०/३३ ॥  
हवा से प्रज्वलित अग्नि के होने पर पृथ्वी पर कौन-कौनसी वस्तुएँ नहीं

- जल जाती।
२४९. महिषैः क्षुभितं तोयं न हि सद्यः प्रसीदति ॥१०/५७ ॥  
भैंसों द्वारा गन्दा किया गया जल शीघ्र स्वच्छ नहीं होता।
२५०. माणिक्यस्य हि लब्धस्य शुद्धेर्मोदो विशेषतः ॥२/२९ ॥  
प्राप्त हुई मणि की उत्तमता के निर्णय से विशेष हर्ष होता है।
२५१. मात्सर्यात्किं न नश्यति ॥४/१७ ॥  
ईर्ष्याभाव से क्या नष्ट नहीं होता ?
२५२. मायामयी हि नारीणां मनोवृत्तिर्निसर्गतः ॥७/४९ ॥  
स्त्रियों की मनोवृत्ति स्वभाव से ही मायामयी होती है।
२५३. मित्रं धात्रीपतिं लोके कोऽपरः पश्यतः सुखी ॥३/३६ ॥  
संसार में मित्रस्वरूप राजा को देखनेवाले की अपेक्षा दूसरा कौन सुखी हो सकता है ?
२५४. मुक्तिद्वारकवाटस्य भेदिना किं न भिद्यते ॥६/३६ ॥  
मोक्ष के द्वार खोलनेवाले के द्वारा किसका भेदन नहीं किया जा सकता ?
२५५. मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण देवत्वं न हि दुर्लभम् ॥४/१३ ॥  
मुक्ति-प्रदाता महामन्त्र से देवपना प्राप्त होना दुर्लभ नहीं है।
२५६. मुखदानं हि मुख्यानां लघूनामभिषेचनम् ॥७/९ ॥  
महापुरुषों का सामान्य व्यक्ति से प्रीतिपूर्वक बोलना उनके राज्याभिषेक के समान होता है।
२५७. मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया न हि युक्तिवितर्किणः ॥८/५८ ॥  
भोले मनुष्य सुनने से बात का निश्चय करनेवाले होते हैं; तर्क और युक्तियों से विचार करनेवाले नहीं।
२५८. मुग्धेष्वतिविदग्धानां युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥८/५७ ॥  
बुद्धिमानों का भोले मनुष्यों के सामने बलादि गुणों की प्रशंसा करना उचित है।
२५९. मूढानां हन्त कोपाग्निरस्थानेऽपि हि वर्धते ॥५/७ ॥

खेद है कि मूर्ख पुरुषों की क्रोधाग्नि अस्थान में भी बढ़ती है !

### ‘य’

२६०. यदशोकः प्रतिक्रिया ॥२/६८॥

शोक नहीं करना ही शोक का प्रतिकार है ।

२६१. यदि रत्नेऽपि मालिन्यं न हि तत्कृच्छशोधनम् ॥११/२०॥

रत्न पर आई हुई मलिनता सरलता से दूर करने योग्य होती है ।

२६२. याश्चायां फलमूकायां न हि जीवन्ति मानिनः ॥९/२६॥

याचना निष्फल हो जाने पर अभिमानी लोग जीवित नहीं रहते ।

२६३. योग्यकालप्रतीक्षा हि प्रेक्षापूर्वविधायिनः ॥९/२२॥

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्य उचित समय की प्रतीक्षा करनेवाले होते हैं ।

२६४. योग्यायोग्यविचारोऽयं रागान्धानां कुतो भवेत् ॥४/३८॥

रागान्ध मनुष्यों को उचित-अनुचित का विचार कहाँ से हो सकता है ?

### ‘र’

२६५. रक्तेन दूषितं वस्त्रं नहि रक्तेन शुध्यति ॥६/१७॥

खून से मलिन हुआ वस्त्र खून से ही धोने पर निर्मल नहीं होता ।

२६६. रागद्वेषादि तेनैव बलिष्ठेन हि बाध्यते ॥८/५०॥

अति बलवान् रागादि से ही सामान्य राग-द्वेष आदि बाधित होते हैं ।

२६७. रागान्धानां वसन्तो हि बन्धुरग्रेरिवानिलः ॥४/२॥

राग से अन्धे पुरुषों के लिए वसन्त ऋतु अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में पवन की तरह मित्र है ।

२६८. रागान्धे हि न जागर्ति याश्चादन्यवितर्कणम् ॥९/२८॥

प्रेम से अन्धे प्राणी में दीनता का विचार भी नहीं रहता ।

२६९. राजवन्ती सती भूमिः कुतो वा न सुखायते ॥१०/५४॥

उत्तम राजा से युक्त भूमि सुख कैसे नहीं देती ?

२७०. राज्यभ्रष्टोऽपि तुष्टः स्याल्लब्धप्राणो हि जन्तुकः ॥३/२०॥

राज्य से भ्रष्ट हो जाने पर भी यदि प्राणों की रक्षा हो जाती है तो मनुष्य आनन्दित होता है ।

२७१. रोचते न हि शौण्डाय परपिण्डादिदीनता ॥३/४॥

उद्यमशील मनुष्य के लिए दूसरे से उपार्जित धन द्वारा निर्वाह से उत्पन्न दीनता अच्छी नहीं लगती ।

### ‘ल’

२७२. लवणाब्धिगतं हि स्यान्नादेयं विफलं जलम् ॥३/१०॥

नदी का मीठा जल भी लवणसमुद्र में जाकर बेकार हो जाता है ।

२७३. लाभं लाभमभीच्छा स्यान्न हि तृप्तिः कदाचन ॥८/५५॥

एक वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर दूसरी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है; सन्तोष कभी भी नहीं होता ।

२७४. लोकद्वयहितध्वंसोर्न हि तृष्णारुषोर्भिदा ॥३/२२॥

लोकद्वय सम्बन्धी हित के नाशक तृष्णा और क्रोध में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

२७५. लोकमालोकसात्कुर्वन्न हि विस्मयते रविः ॥६/३७॥

संसार को प्रकाशमय करता हुआ सूर्य गर्वान्वित नहीं होता ।

२७६. लोको ह्यभिनवप्रियः ॥४/३॥

लोग नई वस्तु से प्रेम करनेवाले होते हैं ।

### ‘व’

२७७. वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ॥१/२७॥

मुख की आकृति मन के भाव को प्रकट कर देती है ।

२७८. वचनीयाद्धि भीरुत्वं महतां महनीयता ॥७/५३॥

निन्दाजनक कार्यों में भीरुता होना महापुरुषों की महानता है ।

२७९. वत्सलेषु च मोहः स्याद्वात्सल्यं हि मनोहरम् ॥८/२॥

स्नेहीजनों पर प्रेमभाव हो ही जाता है, क्योंकि प्रेमभाव मनोहर होता है।

२८०. वत्सलैः सह संवासे वत्सरो हि क्षणायते ॥८/३॥  
प्रियजनों के साथ रहने पर वर्ष भी क्षण के समान लगता है।
२८१. वपुर्वक्ति हि माहात्म्यं दौरात्म्यमपि तद्विदाम् ॥५/४७॥  
शरीर के लक्षणों को जाननेवाले शरीर को देखकर ही मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता का निर्णय कर लेते हैं।
२८२. वपुर्वक्ति हि सुव्यक्तमनुभावमनक्षरम् ॥७/७३॥  
शब्दोच्चारण के बिना ही शरीर की बनावट मनुष्य के प्रभाव को बताती है।
२८३. वशिनां हि मनोवृत्तिः स्थान एव हि जायते ॥८/६६॥  
जितेन्द्रिय पुरुषों के मन की प्रवृत्ति उचित स्थान में ही होती है।
२८४. व्यवस्था हि सतां शैली साहाय्येऽप्यत्र किं पुनः ॥११/८१॥  
महापुरुषों की शैली व्यवस्थित होती है, इसमें सहायता मिल जाए तो फिर कहना ही क्या ?
२८५. वाञ्छितार्थेऽपि कातर्यं वशिनां न हि दृश्यते ॥८/७२॥  
जितेन्द्रिय मनुष्य इच्छित पदार्थ को पाने में भी अधीर नहीं होते।
२८६. वाञ्छिता यदि वाञ्छेयुः ससारैव हि संसृतिः ॥९/१॥  
जिनको हम चाहते हैं, यदि वे भी हमें चाहें तो संसार भी सारभूत भासित होने लगता है।
२८७. वार्धिमेव धनार्थी किं गाहते पार्थिवानपि ॥३/११॥  
धन का इच्छुक मनुष्य समुद्र की ही यात्रा करता है क्या ? अरे वह तो द्वीप-द्वीपान्तर्गों और राजा-महाराजाओं को भी प्राप्त करता है।
२८८. विक्रिया हि विमूढानां सम्पदापल्लवादपि ॥५/३३॥  
मूर्खों को ही अत्यल्प सम्पत्ति और विपत्ति में हर्ष-विषाद हुआ करते हैं।
२८९. विचाररूढकृत्यानां व्यभिचारः कुतो भवेत् ॥९/३१॥  
विचारपूर्वक कार्य करनेवालों के कार्य में हानि कैसे हो सकती है ?

२९०. विचार्यैवेतरैः कार्यं कार्यं स्यात्कार्यवेदिभिः ॥८/६०॥  
कार्यकुशल मनुष्य को दूसरों के साथ विचार करके ही कार्य करना चाहिए।
२९१. विधिस्मिते ह्यनुत्पन्ने विरमन्ति न पण्डिताः ॥१०/६॥  
जबतक इच्छित कार्य नहीं होता, तबतक बुद्धिमान पुरुष विराम नहीं लेते।
२९२. विधिर्घटयतीष्टार्थैः स्वयमेव हि देहिनः ॥७/७१॥  
कर्म इष्ट पदार्थों का प्राणियों से सम्बन्ध स्वयमेव करा देता है।
२९३. विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥२/२६॥  
विद्वान सब जगह पूजा जाता है।
२९४. विद्वेषः पक्षपातश्च प्रतिपात्रं च भिद्यते ॥८/२४॥  
प्रत्येक वस्तु सम्बन्धी राग और द्वेषभाव भिन्न-भिन्न होता है।
२९५. विनयः खलु विद्यानां दोग्धी सुरभिरञ्जसा ॥७/७७॥  
गुरु की सच्ची विनय विद्याओं को देनेवाली कामधेनु है।
२९६. विपच्च सम्पदे हि स्याद्भाग्यं यदि पचेलिमम् ॥८/१९॥  
यदि पुण्य का उदय हो तो विपत्ति भी सम्पत्ति का कारण बन जाती है।
२९७. विपदोऽपि हि तद्भीतिर्मूढानां हन्त बाधिका ॥४/२९॥  
मूर्ख मनुष्यों को विपत्ति का भय विपत्ति से भी अधिक दुःखदायक होता है।
२९८. विपदो वीतपुण्यानां तिष्ठन्त्येव हि पृष्ठतः ॥१०/३४॥  
पुण्यहीन मनुष्यों के पीछे विपत्तियाँ लगी ही रहती हैं।
२९९. विपाके हि सतां वाक्यं विश्वसन्त्यविवेकिनः ॥१/३५॥  
अविवेकी व्यक्ति संकट आने पर सज्जनों की बात का विश्वास करते हैं।
३००. विवेकभूषितानां हि भूषा दोषाय कल्पते ॥७/५॥  
विवेक से शोभायमान विवेकीजनों को आभूषण दोषरूप ही प्रतीत होते हैं।
३०१. विशेषे हि विशेषज्ञो विशेषाकारवीक्षणात् ॥८/३४॥  
विशेषज्ञ पुरुष विशेषताओं को देखकर सन्देह करने लगते हैं।
३०२. विशेषज्ञा हि बुध्यन्ते सदसन्तौ कुतश्चन ॥९/२४॥  
बुद्धिमान किसी न किसी कारण से सत्य-असत्य को जान लेते हैं।

३०३. विशृङ्खला न हि क्वापि तिष्ठन्तीन्द्रियदन्तिनः ॥८/६३॥  
बन्धनरहित इन्द्रियरूपी हाथी किसी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते।
३०४. विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥२/१२॥  
क्या अग्नि की चिंगारी मात्र से गीले ईन्धन को जलाया जा सकता है ?
३०५. विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति ॥१/१०॥  
विषय में आसक्त पुरुषों के कौन-से गुण नष्ट नहीं होते ?
३०६. विस्मृतं हि चिरं भुक्तं दुःखं स्यात्सुखलाभतः ॥८/११॥  
बहुत काल तक भोगा गया महादुःख सुख की प्राप्ति होते ही विस्मृत हो जाता है।
३०७. वीरेण हि मही भोग्या योग्यतायां च किं पुनः ॥१०/३०॥  
यह पृथ्वी वीर पुरुषों द्वारा ही भोगने योग्य है और यदि उनमें विशेष योग्यता हो तो फिर कहना ही क्या ?
३०८. वृषलाः किं न तुष्यन्ति शालेये बीजवापिनः ॥११/५॥  
खेत में बीज बोनेवाले किसान क्या सन्तुष्ट नहीं होते ?

## ‘श’

३०९. शरण्यं सर्वजीवानां पुण्यमेव हि नापरम् ॥७/३३॥  
जीवों का रक्षक एकमात्र पूर्वबद्ध पुण्य ही है; और कोई नहीं।
३१०. शस्तं वस्तु हि भूभुजाम् ॥३/४९॥  
राज्य की सर्वोत्तम वस्तु राजाओं की ही होती है।
३११. शैत्ये जाग्रति किं नु स्यादातपार्तिः कदाचन ॥२/६०॥  
शीत के जागृत होने पर क्या कभी गर्मी का दुःख होता है ?
३१२. शोच्याः कथं न रागान्धा ये तु वाच्यान्न बिभ्यति ॥७/५०॥  
जो रागान्ध पुरुष अपवाद एवं निन्दा से नहीं डरते, उनकी दशा शोचनीय क्यों न होवे ?

## ‘श्र’

३१३. श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्येतन्नह्यधुनाभवत् ॥२/१३॥

कल्याणकारक कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं – यह नियम आज का नहीं, अनादि का है।

## ‘स’

३१४. सचेतनः कथं नु स्यादकुर्वन्प्रत्युपक्रियाम् ॥५/१४॥  
प्रत्युपकार नहीं करनेवाला सचेतन कैसे हो सकता है ?
३१५. सत्यामप्यभिषङ्गातो जागत्येव हि पौरुषम् ॥१/२८॥  
अकस्मात् दैवादिजन्य पीड़ा होने पर पुरुषार्थ जगता ही है।
३१६. सत्यायुषि हि जायेत प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥३/१९॥  
आयुर्कर्म शेष रहने पर प्राणियों के प्राणों की रक्षा हो ही जाती है।
३१७. सतां हि प्रहृतां शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् ॥५/१२॥  
सज्जनों की शान्ति का कारण होनेवाली नम्रता दुर्जनों के लिए घमण्ड का कारण बनती है।
३१८. सतां हि प्रहृतां शास्ति शालीनामिव पक्वताम् ॥६/४८॥  
धान्यों के समान महापुरुषों की विनम्रता उनकी योग्यता का परिचय देती है।
३१९. सति हेतौ विकारस्य तदभावो हि धीरता ॥२/४०॥  
विकार के कारण विद्यमान होने पर भी विकारी न होना ही धीरता है।
३२०. सदसत्त्वं हि वस्तूनां संसर्गादेव दृश्यते ॥५/३९॥  
वस्तुओं का अच्छा-बुरापना, अच्छे-बुरे पदार्थों के संसर्ग से ही होता है।
३२१. सन्निधावपि दीपस्य किं तमिस्रं गुहामुखम् ॥१०/६०॥  
दीपक की समीपता होने पर भी क्या गुफा का मुख अन्धकार से युक्त रह सकता है ?
३२२. सन्निधाने समर्थानां वराको हि परो जनः ॥७/६६॥  
समर्थ व्यक्ति के सामने अन्य व्यक्ति दीन हो जाता है।
३२३. सन्निधौ हि स्वबन्धूनां दुःखमुन्मस्तकं भवेत् ॥१/९०॥  
हितचिन्तकों का सामीप्य होने पर दुःख बढ़ ही जाता है।
३२४. सर्पशङ्काविभीताः किं सर्पास्ये करदायिनः ॥३/१६॥

- सर्प से भयभीत लोग क्या सर्प के मुँह में हाथ डालते हैं ?
३२५. सर्पिष्पातेन सप्तार्चिरुदर्चिः सुतरां भवेत् ॥५/३॥  
अग्नि में घी डालने से अग्नि भड़क उठती है ।
३२६. सभयस्नेहसामर्थ्याः स्वाम्यधीना हि किङ्कराः ॥९/१९॥  
नौकर अपने स्वामी से डरते हैं और उनसे स्नेह की भावना भी रखते हैं ।
३२७. सम्पदामापदां चाप्तिर्व्याजेनैव हि केनचित् ॥८/६५॥  
सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति किसी न किसी बहाने से ही होती है ।
३२८. समीहितार्थसंसिद्धौ मनः कस्य न तुष्यति ॥१/१०१॥  
इच्छित कार्य सिद्ध होने पर किसका मन सन्तुष्ट नहीं होता ?
३२९. समीहितेऽपि साहाय्ये प्रयत्नो हि प्रकृष्यते ॥६/४०॥  
इच्छित कार्य में सहायक मिलने पर उत्साह बढ़ जाता है ।
३३०. समौ हि नाट्यसभ्यानां सम्पदां च लयोदयौ ॥१०/४०॥  
रंगमंच पर होनेवाली हानि-लाभ का अच्छा-बुरा प्रभाव दर्शकों पर होता ही नहीं ।
३३१. सर्वथा दग्धबीजाभाः कुतो जीवन्ति निर्घृणाः ॥९/१८॥  
जले हुए बीज के समान कान्तिवाले सर्वथा दयारहित जीव कैसे जी सकते हैं ?
३३२. सर्वदा भुज्यमानो हि पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥३/५॥  
हमेशा भोगा जानेवाला पर्वत भी नष्ट हो जाता है ।
३३३. संसारविषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः ॥८/८॥  
संसार के विषयों में मन की प्रवृत्ति स्वयमेव होती है ।
३३४. संसारेऽपि यथायोग्याद्भोग्यान्ननु सुखी जनः ॥४/१॥  
संसार में अनुकूल भोग-सामग्री से मनुष्य सुखी होता है ।
३३५. संसारोऽपि हि सारः स्याद्दम्पत्योरेककण्ठयोः ॥९/३५॥  
पति-पत्नी के मतैक्य से संसार भी सारभूत लगता है ।
३३६. संसृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः ॥३/२७॥  
संसार में मायाचार रहित व्यवहार नहीं होता ।

३३७. सामग्रीविकलं कार्यं न हि लोके विलोकितम् ॥८/५६॥  
संसार में आवश्यक सामग्री के बिना कार्य नहीं देखा जाता ।
३३८. सुकृतीनामहो वाञ्छा सफलैव हि जायते ॥५/३६॥  
पुण्यशाली जीवों की इच्छा सफल ही होती है ।
३३९. सुजनेतरलोकोऽयमधुना न हि जायते ॥१०/३६॥  
संसार में कुछ मनुष्य सज्जनों के और कुछ मनुष्य दुर्जनों के पक्षपाती सदा से हैं ।
३४०. सुतप्राणा हि मातरः ॥८/५४॥  
माताओं के प्राण पुत्र ही होते हैं ।
३४१. सुधासूतेः सुधोत्पत्तिरपि लोके किमद्भुतम् ॥३/५२॥  
चन्द्रमा से अमृत की उत्पत्ति होती है, क्या इसमें किसी को आश्चर्य है ?
३४२. सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं शपथात्किं प्रतीयते ॥६/४७॥  
सुगन्धित नीलकमल की सुगन्ध के लिए शपथ खाने की जरूरत नहीं होती ।
३४३. सौभाग्यं हि सुदुर्लभम् ॥१/८॥  
सद्भाग्य की प्राप्ति होना दुर्लभ है ।
३४४. सौभ्रात्रं हि दुरासदम् ॥१/१०७॥  
सच्चा भाई मिलना बहुत कठिन है ।
३४५. स्त्रीणामेव हि दुर्मतिः ॥३/४०॥  
स्त्रियों के दुर्बुद्धि ही होती है ।
३४६. स्त्रीणां मौढ्यं हि भूषणम् ॥९/३३॥  
मूर्खता स्त्रियों का आभूषण है ।
३४७. स्त्रीरागेणात्र के नाम जगत्यां न प्रतारिताः ॥३/४३॥  
संसार में ऐसे कौन पुरुष हैं, जो स्त्रियों के राग से नहीं ठगाये गये हैं ?
३४८. स्त्रीष्ववज्ञा हि दुःसहा ॥१/५६॥  
स्त्रियों की अवज्ञा पुरुषों के लिए असह्य होती है ।
३४९. स्थाने हि कृतिनां गिरः ॥१०/२७॥

- बुद्धिमान पुरुष उचित स्थान में/समयपर ही बोलते हैं ।
३५०. स्थाने हि बीजवदत्तमेकं चापि सहस्रधा ॥७/६ ॥  
अच्छे स्थान में बोया गया एक ही बीज सहस्रगुना फल देता है ।
३५१. स्नेहपाशो हि जीवानामासंसारं न मुञ्चति ॥८/२२ ॥  
जबतक संसार है, तबतक प्राणियों का स्नेहरूपी बन्धन नहीं छूटता ।
३५२. स्वदेशे हि शशप्रायो बलिष्ठः कुञ्जरादपि ॥२/६४ ॥  
अपने स्थान पर खरगोश जैसा तुच्छ पशु भी हाथी से भी बलवान होता है ।
३५३. स्वकार्येषु हि तात्पर्यं स्वभावादेव देहिनाम् ॥९/२५ ॥  
मनुष्यों को अपने कार्यों में तत्परता स्वभाव से ही हुआ करती है ।
३५४. स्वभावो न हि वार्यते ॥१०/५१ ॥  
स्वभाव कभी भी बदला नहीं जा सकता ।
३५५. स्वमनीषितनिष्पत्तौ किं न तुष्यन्ति जन्तवः ॥६/३८ ॥  
चिर प्रतीक्षित कार्य की सफलता पर क्या प्राणी आनन्दित नहीं होते ?
३५६. स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं कुलजानां कुतो भवेत् ॥१०/२ ॥  
कुलीन स्त्रियाँ अपने पति की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं करती ।
३५७. स्वयं देया सती विद्या प्रार्थनायां तु किं पुनः ॥७/७५ ॥  
निर्दोष विद्या बिना माँगे ही दूसरों को देना चाहिए; फिर याचना करने पर तो देना ही चाहिए ।
३५८. स्वयं नाशी हि नाशकः ॥१०/५० ॥  
दूसरे का नाश करनेवाला अपना ही नाश करता है ।
३५९. स्वयं परिणतो दन्ती प्रेरितोऽन्येन किं पुनः ॥१०/९ ॥  
हाथी स्वभावतः वृक्ष आदि उखाड़ने में तत्पर रहता है, फिर यदि कोई उसे उत्तेजित करे तो फिर उसका कहना ही क्या ?
३६०. स्वस्यैव सफलो यत्नः प्रीतये हि विशेषतः ॥४/४३ ॥  
स्वयं का सफल प्रयत्न विशेषरूप से आनन्दकारी होता है ।

३६१. स्वयं वृण्वन्ति हि स्त्रियः ॥१/११० ॥  
स्त्रियाँ अच्छे वर को स्वयं वर लेती हैं ।
३६२. स्ववधाय हि मूढात्मा कृत्योत्थापनमिच्छति ॥१०/३२ ॥  
मूर्ख व्यक्ति स्वयं अपने नाश के लिए बेताल को जगाने की इच्छा करता है ।
३६३. स्वास्थ्ये हादृष्टपूर्वाश्च कल्पयन्त्येव बन्धुताम् ॥४/३५ ॥  
पहले न देखे हुए मनुष्य सुख के समय भ्रातृत्व जताने लगते हैं ।
- ‘ह’
३६४. हन्त कापटिका लोके बुधायन्ते हि मायया ॥१०/२१ ॥  
खेद है कि कपटी मनुष्य छल-कपट से विद्वानों के समान व्यवहार करते हैं!
३६५. हन्त क्रूरतमो विधिः ॥१/६३ ॥  
खेद है कि भाग्य बहुत कठोर होता है ।
३६६. हस्तस्थेष्यमृते को वा तित्तसेवापरायणः ॥११/८२ ॥  
हाथ में अमृत आ जाने पर कड़वी वस्तु के सेवन की चाह कौन करता है ?
३६७. हन्तात्मानमपि घ्नन्तः क्रुद्धाः किं किं न कुर्वते ॥२/३८ ॥  
अपने आप को भी नष्ट कर देनेवाले क्रोधी जन क्या-क्या नहीं कर डालते ?
३६८. हितकृत्वं हि मित्रता ॥५/३१ ॥  
मित्र के प्रति हितबुद्धि ही मित्रता है ।
३६९. हेतुच्छलोपलम्भेन जृम्भते हि दुराग्रहः ॥९/९ ॥  
कोई बहाना/निमित्त मिल जाने से मनुष्य का दुराग्रह बढ़ ही जाता है ।

## ‘त्र’

३७०. त्रिकालज्ञा हि निर्जराः ॥५/३० ॥  
देवगति के देव भूत-भविष्य सम्बन्धी घटनाओं को अवधिज्ञान द्वारा जानते हैं ।
३७१. त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥२/३२ ॥  
जो रत्न तीन लोक की सम्पदा खरीदने में समर्थ है, उस रत्न से क्या भूसे का ढेर नहीं खरीदा जा सकता ?

## लम्ब-१

### १. विषयासक्ति सद्गुणों की नाशक -

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्यों के कौन-से सद्गुण नष्ट नहीं होते हैं? अरे ! उनके तो सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि विषयों की आसक्ति और सद्गुणों में परस्पर सदा से ही वैर है। अतः विषयासक्त मनुष्यों में विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता, सत्यनिष्ठा, विवेक आदि कोई भी गुण नहीं रहता।

### २. कामासक्त मनुष्य की अदूरदृष्टि -

पराराधनजाद् दैन्यात्पैशून्यात्परिवादतः ।

पराभवात्किमन्येभ्यो न विभेति हि कामुकः ॥११॥

जब कामासक्त लोग दूसरों की सेवा करने से उत्पन्न दीनता, चुगली, निन्दा और तिरस्कार से भी नहीं डरते; तो फिर अन्य सामान्य दुःखद स्थितियों से वे कैसे डरेंगे ?

### ३. कामासक्त पुरुष मृत्यु से भी नहीं डरते -

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितामपि ।

कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥१२॥

जब विषय-भोगों की इच्छा से पीड़ित लोग भोजन, त्याग (व्रत-नियम), मान-सम्मान, वैभव और विवेक को भी छोड़ देते हैं, तब अन्य विषयों की तो बात ही क्या? अरे, काम-वासना की पूर्ति के लिए तो वे अपना अमूल्य जीवन भी नष्ट कर देते हैं।

### ४. राजनीति का स्वरूप -

हृदयं च न विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः ।

किन्तु विश्वस्तवद्दृश्यो नटायन्ते हि भूभुजः ॥१५॥

मन्त्री राजा को परामर्श दे रहे हैं - राजा को तो अपने हृदय पर भी विश्वास

लम्ब १

४१

नहीं करना चाहिए, फिर औरों की तो बात ही क्या ? फिर भी उसे ऐसा प्रदर्शन करना चाहिए कि वह सब पर विश्वास करता है। राजा लोग तो नट के समान आचरण करते हैं।

### ५. त्रिवर्ग साधन की सार्थकता -

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।

अनर्गलमतः सौख्यं अपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१६॥

यदि एक-दूसरे के साथ अविरोधपूर्वक धर्म, अर्थ और काम - इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन किया जाए तो इहलोक में तो सांसारिक सुख की प्राप्ति होती ही है; परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त होता है।

### ६. कार्यारम्भ के पूर्व अति आवश्यक विचार -

नाशिनं भाविनं प्राप्यं प्राप्ते च फलसन्ततिम् ।

विचार्यैव विधातव्यमनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥१७॥

जिस पदार्थ के लिए हम पुरुषार्थ कर रहे हैं, वह विनाशी है या अविनाशी ? वह हमें भविष्य में प्राप्त हो सकता है या नहीं ? प्राप्त होने पर वह फल देगा, उससे लाभ होगा या नहीं ? - इत्यादि बातों का विचार करके ही पुरुषार्थ करना चाहिए; अन्यथा पश्चात्ताप ही होगा।

### ७. अज्ञानी को अनिष्ट की आकुलता निरन्तर -

पुत्रमित्रकलत्रादौ सत्यामपि च सम्पदि ।

आत्मीयापायशङ्का हि शङ्कु प्राणभृतां हृदि ॥२४॥

पुत्र, मित्र, पत्नी आदि साथ में होने पर भी मनुष्य को स्वयं के विनाश की शंका हृदय में कील के समान चुभती रहती है अर्थात् कितने ही इष्ट संयोग मिल जाएँ तो भी मनुष्य को अपने मरण की चिन्ता काँटे के समान सालती रहती है।

### ८. संकट परिहार के लिए शोक असमर्थ -

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम् ।

पावके न हि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये ॥३०॥

विपदाओं को दूर करने के लिए क्या मनुष्य का शोक समर्थ है ? बिलकुल नहीं है। जैसे गर्मी से होनेवाले दुःख को दूर करने के लिए अग्नि में कूदना / प्रवेश करना उचित उपाय नहीं है; वैसे ही शोक करना संकट के परिहार का उपाय नहीं है।

### ९. संकट परिहार का सही उपाय -

ततो व्यात्प्रतीकारं धर्ममेव विनिश्चिनु।  
प्रदीपैर्दीपिते देशे न ह्यस्ति तमसो गतिः ॥३१॥

जिसप्रकार दीपकों से प्रकाशित स्थान पर अन्धकार नहीं ठहर सकता; उसीप्रकार जहाँ धर्म है, वहाँ विपत्तियाँ भी नहीं ठहर सकतीं। अतः यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि विपत्तियों का परिहार धर्म से ही होता है।

### १०. पश्चात्ताप की निरर्थकता -

न ह्यकालकृता वाञ्छा सम्पुष्पाति समीहितम्।  
किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ॥३६॥

जिसप्रकार फलोत्पत्ति का काल आने पर उससमय फूलों की प्राप्ति सम्भव नहीं है अर्थात् जिससमय वृक्ष में फल लगनेवाले होते हैं, उससमय वृक्ष से फूलों की प्राप्ति सम्भव नहीं होती; उसीप्रकार असमय में की गई इच्छा भी इच्छित कार्य को पूरा नहीं करती है। तात्पर्य यह है कि यदि गलत समय में सही कार्य भी किया जाता है तो उसमें सफलता नहीं मिलती।

### ११. पराधीन जीवन से मरण श्रेष्ठ -

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्।  
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥४०॥

पराधीन रहकर जीवन जीने की अपेक्षा जीवों को मरण ही श्रेष्ठ है; वन में सिंह को वनचरों का स्वामी किसने बनाया ? किसी ने नहीं। सिंह तो स्वयमेव अपने पुरुषार्थ से ही स्वामी बन गया है।

### १२. राजा, प्रजा का प्राण होता है -

राजानः प्राणिनां प्राणास्तेषु सत्स्वेव जीवनात्।  
तत्तत्र सदसत्कृत्यं लोक एव कृतं भवेत् ॥४६॥

राजा लोग ही प्रजा के प्राण होते हैं, क्योंकि उनके कारण ही प्रजा का जीवन सुरक्षित रहता है, इसलिए राजाओं के प्रति किया गया अच्छा-बुरा कार्य प्रजा के प्रति ही होता है। अतः हमें कभी भी राजा का बुरा नहीं सोचना चाहिए।

### १३. राजद्रोह में पाँचों पाप समाहित -

एवं राजद्रुहां हन्त सर्वद्रोहित्व-सम्भवे।  
राजधुगेव किं न स्यात् पञ्चपातकभाजनम् ॥४७॥

चूँकि राजा के प्रति किया गया कार्य प्रजा के प्रति ही होता है, अतः राजद्रोह में पूरी प्रजा के प्रति द्रोह समाहित होने से राजा के साथ द्रोह/धोखा करनेवाला व्यक्ति पाँचों ही पापों को करनेवाला होता है।

### १४. पुण्य समाप्त होने पर पाप का उदय -

शोकेनालमपुण्यानां पापं किं न फलप्रदम्।  
दीपनाशे तमोराशिः किमाह्वानमपेक्षते ॥५८॥

पुण्यरहित जीवों के लिए क्या पाप फल नहीं देता ? देता ही है। जिसप्रकार दीपक के बुझ जाने पर अन्धकार का समूह आमन्त्रण की अपेक्षा नहीं रखता; उसीप्रकार पुण्य क्षीण हो जाने पर पाप भी आमन्त्रण की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु वह फल देने के लिए स्वयमेव उपस्थित हो जाता है अर्थात् पाप का उदय होता है।

### १५. धनादि भोग्य वस्तुओं की स्वाभाविक क्षणभंगुरता -

यौवनं च शरीरं च सम्पच्च व्येति नाद्भुतम्।  
जलबुदबुदित्यत्वे चित्रीया न हि तत्क्षये ॥५९॥

जवानी, शरीर और सम्पत्ति के नष्ट हो जाने में क्या आश्चर्य है; क्योंकि इनका तो स्वभाव ही नष्ट होने का है, ठीक उसीप्रकार जैसे बुलबुले के देर तक

ठहरने में आश्चर्य होता है, न कि उसके तत्क्षण नष्ट हो जाने में।

### १६. संयोग का वियोग सुनिश्चित -

संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः।

किमन्यैरङ्गतोऽप्यङ्गी निःसङ्गो हि निवर्तते॥६०॥

जिन पदार्थों का संयोग हुआ है, उनका वियोग होना निश्चित है, क्योंकि संयोग कहते ही उसे, जिसका नियम से वियोग हो। दूसरों की तो बात ही क्या करें, यहाँ तो जन्म से ही आत्मा के साथ रहनेवाले शरीर का भी वियोग हो ही जाता है।

### १७. शत्रु-मित्रता केवल कल्पना -

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता।

सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना॥६१॥

१. यह संसार अनादिकालीन है, अतः यहाँ पर किसी की भी किसी के साथ सर्वथा अनादिकालीन मित्रता या शत्रुता नहीं हो सकती। किसी के साथ मित्रता या शत्रुता मानना कल्पना मात्र है। अतः हमें परस्पर मित्रता या शत्रुता का भाव करके व्यर्थ के राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

२. संसार अनादि काल का होने से किसका किसके साथ भ्रातृत्व नहीं हुआ अर्थात् किसी न किसी भव में सभी जीव परस्पर एक-दूसरे के भाई-बहन आदि बने हैं। अतः किसी के साथ सर्वथा शत्रुता का भाव रखना कल्पना ही है।

### १८. राज्यादि समस्त भोग्य वस्तु उच्छिष्ट -

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं त्वयात्मन्भुज्यते ततः।

उच्छिष्टं त्यज्यतां राज्यमनन्ता ह्यसुभृद्भवाः॥६७॥

हे आत्मन् ! चूँकि जीव की पर्यायें अनन्त होती हैं। इसलिए इस संसार की समस्त वस्तुएँ तुम्हारे द्वारा पहले ही भोगी हुई हैं और तुम अब पुनः उन्हीं वस्तुओं का भोग कर रहे हो; किन्तु जिस वस्तु का एक बार भोग कर लिया जाता है, वह जूठी हो जाती है। इसलिए तुम जूठन के समान इन राज्यादिक को छोड़ो।

### १९. भोग से संसार और त्याग से मोक्ष -

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।

स्वयं त्याज्यस्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥६८॥

यदि पाँचो इन्द्रियों के विषय बहुत काल तक स्थिर रहने के बाद भी नष्ट हो जाते हैं तो हमें उनके नष्ट होने के पहले ही उनका त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि यदि उनके नाश होने के पहले ही हम उनका त्याग कर देते हैं तो मुक्ति होती है। यदि हम त्याग नहीं करते तो कर्मों का बन्धन होगा ही, जिससे संसार ही बढ़ेगा।

### २०. त्याग की महिमा -

त्यज्यते रज्यमाने राज्येनान्येन वा जनः।

भज्यते त्यज्यमानेन तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम्॥६९॥

राज्य, वैभव, स्त्री-पुत्रादि इष्ट पदार्थ मनुष्य को चाहने मात्र से प्राप्त नहीं होते। जो इन पदार्थों का त्याग करे, उनके प्रति रागभाव छोड़े तो वे ही अपेक्षित वस्तुएँ उस त्याग करनेवाले को सहज प्राप्त होती हैं। अतः भेदविज्ञानियों को त्यागभाव स्वीकार करना चाहिए।

### २१. नारी सम्बन्धी राग की क्रूरता -

अधिस्रि रागः क्रूरोऽयं राज्यं प्राज्यमसूनपि।

तद्विचिता हि मुञ्चन्ति किं न मुञ्चन्ति रागिनः॥७२॥

स्त्रियों के प्रति होनेवाला राग अत्यन्त भयंकर होता है; क्योंकि स्त्री से राग करनेवाला व्यक्ति जब राज्य और प्राणों को भी छोड़ देता है अर्थात् इनकी परवाह नहीं करता तो इनसे बढ़कर इस संसार में उसके लिए क्या है, जिनकी वह परवाह करेगा ?

### २२. स्त्री के भोग में आसक्त मनुष्य सूकर के समान -

नारीजघनरन्ध्रस्थ - विण्मूत्रमयचर्मणा।

वराह इव विद्भक्षी हन्त मूढः सुखायते॥७३॥

खेद की बात है कि मूर्ख मनुष्य मल-मूत्रादि से भरे हुए स्त्री के गुप्तांग में विलासकर विष्टा खानेवाले सूकर के समान अपने को सुखी मानते हैं।

२३. स्त्री सेवन से उत्पन्न सुख अविचारितरम्य -

किं कीदृशं कियत्क्वेति विचारे सति दुःसहम् ।

अविचारितरम्यं हि रामासम्पर्कजं सुखम् ॥७४॥

स्त्री सेवन से जो सुख होता है; वह तब तक ही सुखरूप लगता है, जब तक कि उसके बारे में 'यह सुख क्या है, कैसा है, कितना है और कहाँ है?' - ऐसा विचार नहीं किया जाता, किन्तु ऐसा विचार करने पर वही सुख असह्य हो जाता है अर्थात् स्त्री विषयक सुख बिना विचार के ही अच्छा लगता है।

२४. निजात्मा का ज्ञान ही कर्म नष्ट करने का उपाय -

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किंप्राप्यः किंनिमित्तकः ।

इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥७८॥

मैं कौन हूँ? मुझमें कैसे गुण हैं? मैं किस गति से आया हूँ? इस भव में मुझे क्या प्राप्त करना है? और मेरा साध्य क्या है? - इसप्रकार के विचार प्रतिदिन न हों तो बुद्धि अयोग्य कार्यों में प्रवृत्त होती है।

२५. ज्ञानी का स्वरूप सम्बोधन -

किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं नु वा क्रियतेऽधुना ।

आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुहासि ॥८०॥

हे आत्मन्! तूने क्या करना प्रारम्भ किया था और अब तू क्या कर रहा है? महान खेद की बात है कि प्रारम्भ किए हुए आत्मकल्याणरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर बाह्य मान-सम्मान और पंचेन्द्रिय के विषयों में मोह कर रहा है।

२६. पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की मिथ्याकल्पना -

इदमिष्टमनिष्टं वेत्यात्मन्सङ्कल्पयन्मुधा ।

किं नु मोमुहासे बाह्ये स्वस्वान्तं स्ववशी कुरु ॥८१॥

हे आत्मन्! अमुक पदार्थ इष्ट/सुखदायक है और अमुक पदार्थ अनिष्ट/दुःखदायक है - इसप्रकार कल्पना करता हुआ तू बाह्य परपदार्थों में व्यर्थ क्यों मुग्ध हो रहा है? अपने मन को अपने आधीन कर।

२७. अशान्त मन अहितकारी -

लोकद्वयाहितोत्पादि हन्त स्वान्तमशान्तिमत् ।

न द्वेक्षि द्वेक्षि ते मौढ्यादन्यं सङ्कल्प्य विद्विषम् ॥८२॥

हे आत्मन्! बड़े खेद की बात है कि तुम इहलोक और परलोक में दुःख उत्पन्न करनेवाले अशान्तिमय अपने मन से द्वेष नहीं करते; अपितु मूर्खता के कारण दूसरों को शत्रु/दुःखदायक मानकर उनसे ही द्वेष करते हो।

२८. अपने दोष देखना ही मुक्ति का उपाय -

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।

कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥८३॥

दूसरों के दोषों के समान अपने दोषों को देखनेवाले महापुरुष के समान दूसरा कौन है? अरे, वास्तव में विचार किया जाए तो वह मनुष्य तो शरीर सहित होने पर भी सिद्ध के समान है!

## लम्ब-२

२९. ज्ञानदान ही सर्वोत्तम दान -

आत्मकृत्यमकृत्यं च सफलं प्रीतये नृणाम् ।

किं पुनःश्लाघ्यभूतं तत्किंविद्यास्थापनात्परम् ॥८४॥

अपने द्वारा किया गया खोटा कार्य भी सफल होने पर मनुष्यों को अच्छा लगता है। उस पर भी यदि वह कार्य अच्छा हो तो उसकी प्रसन्नता का कहना ही क्या? और ज्ञानदान से उत्कृष्ट कार्य और दूसरा क्या हो सकता है? अर्थात् ज्ञानदान ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है।

३०. प्रतिकूलता का कारण -

न हि वारयितुं शक्यं दुष्कर्माल्पतपस्यया ।  
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

जैसे अग्नि की अल्प चिंगारी गीले ईन्धन को जलाने में समर्थ नहीं है; वैसे ही अल्प तपश्चर्या महान पापकर्म का निवारण करने में समर्थ नहीं ।

३१. धर्मात्मा ही धर्मात्माओं के सहायक -

धार्मिकाणां शरण्यं हि धार्मिका एव नापरे ।  
अहेर्नकुलवत्तेषां प्रकृत्यान्ये हि विद्विषः ॥१७॥

धर्मात्मा ही धर्मात्माओं के सहायक होते हैं, अन्य नहीं । जैसे नेवला सर्प का स्वभाव से ही वैरी होता है, वैसे ही अधार्मिक, धार्मिक जनों के वैरी होते हैं ।

३२. ज्ञानदान का स्वरूप और फल -

विद्या हि विद्यमानेयं वितीर्णापि प्रकृष्यते ।  
नाकृष्यते च चौराद्यैः पुष्यत्येव मनीषितम् ॥२५॥

किसी को भी विद्या देने से वह घटती नहीं है; अपितु बढ़ती ही है । उस विद्या को चोर लूट नहीं सकते, बन्धु-बान्धव उसमें से हिस्सा नहीं बाँट सकते; वह विद्या तो अपने इच्छित कार्यों को पूर्ण ही करती है ।

३३. विद्वत्ता से लौकिक अनुकूलताएँ -

वैदुष्येण हि वंश्यत्वं वैभवं सदुपास्यता ।  
सदस्यतालमुक्तेन विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥२६॥

विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-सम्पत्ति, सज्जनता और सज्जन पुरुषों द्वारा सम्मान मिलता है । अधिक कहने से क्या लाभ ? विद्वान सब जगह पूजा जाता है ।

३४. विद्वत्ता मोक्ष का भी कारण -

वैपश्चित्यं हि जीवानामाजीवितमनिन्दितम् ।  
अपवर्गेऽपि मार्गोऽयमदः क्षीरमिवौषधम् ॥२७॥

विद्वत्ता मनुष्यों के लिए जीवनभर प्रतिष्ठा देनेवाली तो होती ही है; साथ ही जिसप्रकार दूध शरीर के लिए पौष्टिक होने के साथ ही औषधिस्वरूप है; उसीप्रकार विद्वत्ता लौकिक कार्यों को साधती हुई मोक्ष के कारणस्वरूप भी है ।

३५. सच्चे गुरु का स्वरूप -

रत्नत्रयविशुद्धः सन्पात्रस्नेही परार्थकृत् ।  
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥३०॥

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप 'रत्नत्रय' के धारक हैं, सज्जन हैं, निष्पृह भाव से योग्य शिष्यों पर स्नेह रखते हैं, परोपकारी हैं, धर्म का पालन करते हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार लगाते हैं; वे ही सच्चे गुरु हैं ।

३६. सच्चे शिष्य का स्वरूप -

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।  
शान्तस्वान्तो ह्यान्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥३१॥

जो गुरुभक्त, संसार से भयभीत, विनयशील, धर्मात्मा, तीव्रबुद्धि, शान्तचित्त, आलस्यरहित और उत्तम आचरणवाला होता है, उसे ही सच्चा शिष्य कहते हैं ।

३७. गुरु-भक्ति मुक्ति का भी कारण -

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत् ।  
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्कटरः ॥३२॥

जिसप्रकार तीन लोक की कीमत वाले अमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीदना कोई बड़ी बात नहीं है; उसीप्रकार जो सच्ची गुरु-भक्ति परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति करा देती है, उससे अन्य लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है ।

३८. गुरुद्रोह से विद्या का नाश -

गुरुद्रुहां गुणः को वा कृतघ्नानां न नश्यति ।  
विद्यापि विद्युदाभाः स्यादमूलस्य कुतः स्थितिः ॥३३॥

जिसप्रकार बिना जड़ के वृक्ष की स्थिति सम्भव नहीं है; उसीप्रकार गुरु से द्रोह करनेवाले और गुरु का उपकार न माननेवाले के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । उनकी तो विद्या भी बिजली की तरह क्षणस्थायी हो जाती है; क्योंकि यह परम सत्य है कि बिना जड़वाले पदार्थ की स्थिति नहीं रहती ।

## ३९. गुरुद्रोह सर्व सद्गुणों का नाशक -

गुरुद्रोहो न हि क्वापि विश्वास्यः विश्वघातिनः ।  
अभिभ्यतां गुरुद्रोहादन्यद्रोहात्कुतो भयम् ॥३४॥

जो मनुष्य गुरु के साथ द्रोह करता है, विश्वासघात करता है; वह कभी भी कहीं पर भी विश्वास करने योग्य नहीं होता; क्योंकि गुरु के द्रोह से न डरनेवाले को अन्य लोगों से द्रोह करने का भय कैसे रहेगा ?

## ४०. क्रोध पर क्रोध करने का उपदेश -

अपकुर्वति कोपश्चेत्किं न कोपाय कुप्यसि ।  
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥४२॥

यदि अपकार करनेवालों पर ही क्रोध करना चाहते हो तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ का एवं वर्तमान मनुष्य जीवन का भी नाश करनेवाले क्रोध पर आप क्रोध क्यों नहीं करते ?

## ४१. क्रोधी स्वयं ही दुःखी -

दहेत्स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः ।  
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वह्निमन्यदिधिक्षया ॥४३॥

क्रोधरूपी अग्नि स्वयं को ही जलाती है; दूसरे को नहीं। इसीलिए वास्तव में तो क्रोध करनेवाला पुरुष अपने शरीर को ही अग्नि में जलाता है।

## ४२. शास्त्र-स्वाध्याय का फल -

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।  
किं व्रीहिखण्डनायासैस्तण्डुलानामसम्भवे ॥४४॥

जिसप्रकार चावल निकाल लेने के पश्चात् मात्र तुष को कूटने से कोई लाभ नहीं है अर्थात् कूटने का परिश्रम व्यर्थ है; उसीप्रकार हेय-उपादेय का ज्ञान न हो तो शास्त्र के अध्ययन करने का परिश्रम व्यर्थ है।

## ४३. तत्त्वज्ञान का फल मिलना आवश्यक -

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।

पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥४५॥

जिसप्रकार हाथ में दीपक होने पर भी कुएँ में गिरनेवाले व्यक्ति के लिए दीपक व्यर्थ ही है; उसीप्रकार तत्त्वज्ञान होने पर भी तत्त्व के विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषों का तत्त्वज्ञान व्यर्थ ही है।

## ४४. तत्त्वज्ञान के अनुसार ही प्रवृत्ति योग्य -

तत्त्वज्ञानानुकूलं तदनुष्ठातुं त्वमर्हसि ।  
मुषितं धीधनं न स्याद्यथा मोहादिदस्युभिः ॥४६॥

तुम्हें तो तत्त्वज्ञान के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए; जिससे कि मोह-राग-द्वेष आदि चोरों के द्वारा बुद्धिरूपी धन न लूटा जा सके।

## ४५. दुर्जनरूपी सर्प से दूर रहना ही उचित -

स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्स्वपथोत्सुकमानसान् ।  
दुर्जनाहीञ्जहीहि त्वं ते हि सर्वङ्गषाः खलाः ॥४७॥

जो स्त्री के माध्यम से कुपथ में प्रवेश करानेवाले हैं, जो स्वयं कुपथ पर चलने-चलाने में उत्कण्ठित मनवाले हैं - ऐसे दुर्जनरूपी सर्पों को तुम दूर से ही छोड़ दो; क्योंकि वे दुष्ट सब लोगों का सर्वनाश करनेवाले होते हैं।

## ४६. दुर्जन का समागम अहितकारी -

स्पृष्टानामहिभिर्नश्येत् गात्रं खलजनेन तु ।  
वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥४८॥

सर्प के काटने से तो केवल जड़ शरीर का ही नाश होता है; किन्तु दुर्जनों का समागम करने से तो वंश, वैभव, पाण्डित्य, शान्ति, कीर्ति इत्यादि सर्व गुणों का नाश क्षणभर में ही हो जाता है।

## ४७. दूसरों को दुर्जन बनाना सरल -

खलः कुर्यात्खलं लोकमन्यमन्यो न कश्चन ।  
न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत् ॥४९॥

दुर्जन मनुष्य दूसरे मनुष्य को थोड़े ही समय में दुर्जन बना लेता है; किन्तु

सज्जन मनुष्य दूसरे मनुष्य को तत्काल सज्जन नहीं बना पाता; क्योंकि पदार्थों के विनाश के समान उनका उत्पन्न करना सरल नहीं है।

४८. सज्जनों का समागम तथा सम्मान करना उचित -

सज्जनास्तु सतां पूर्वं समावर्ज्याः प्रयत्नतः।

किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः॥५०॥

जिसप्रकार मिट्टी, कंकड़ आदि बिना प्रयास के सरलता से मिल जाते हैं, किन्तु मूल्यवान रत्न नहीं मिलते; उसीप्रकार सज्जन पुरुषों का समागम बड़ी दुर्लभता से होता है, अतः सज्जनों को प्रयत्नपूर्वक सज्जनों का सम्मान, आदर-सत्कार करना चाहिए।

४९. सज्जनों के वचन अमृत से भी श्रेष्ठ -

जाग्रत्वं सौमनस्यं च कुर्यात्सद्वागलं परैः।

अजलाशयसम्भूतममृतं हि सतां वचः॥५१॥

सज्जन पुरुषों के वचन सावधान करनेवाले, मन को पवित्र करनेवाले एवं अमृत के समान हैं। अमृत तो समुद्र से उत्पन्न माना गया है; किन्तु सज्जन पुरुषों के वचन उनके पवित्र हृदय से उत्पन्न होते हैं।

५०. अविकारी रहना ही योग्य है -

यौवनं सत्त्वमैश्वर्यमेकैकं च विकारकृत्।

समवायो न किं कुर्यादविकारोऽस्तु तैरपि॥५२॥

यौवन, सत्ता, अधिकार, धन-वैभव - इनमें से एक भी हो तो वह अज्ञानी मनुष्य को विकारी बना देता है, फिर इन सबका समूह मनुष्य को विकारी क्यों नहीं बनाएगा ? अवश्य बनाएगा, किन्तु ऐसे निमित्त मिलने पर भी अविकारी रहना ही सज्जनों के लिए योग्य है।

५१. सज्जन पुरुष सदा अविकारी -

न हि विक्रियते चेतः सतां तद्धेतुसन्निधौ।

किं गोष्पदजलक्षोभी क्षोभयेज्जलधेर्जलम्॥५३॥

जैसे गाय के खुरप्रमाण जल को तरंगित एवं मैला करनेवाला छोटा-सा मेंढक समुद्र के जल को तरंगित एवं मैला नहीं कर सकता; वैसे ही विकार के निमित्त उपस्थित होने पर भी वे निमित्त सज्जन/सम्यग्दृष्टि के चित्त को क्षोभित करने/विकारी बनाने में समर्थ नहीं हैं।

५२. अस्थिर बुद्धि ही जीवन में बाधक -

देशकालखलाः किं तैश्चला धीरेव बाधिका।

अवहितोऽत्र धर्मे स्यादवधानं हि मुक्तये॥५४॥

प्रतिकूल देश, प्रतिकूल काल और दुर्जन मनुष्यों से कुछ भी हानि नहीं होती; अपितु अपनी चंचल बुद्धि ही हानिकारक होती है। इसीलिए आत्मस्वभाव में सावधान रहो; क्योंकि आत्मलीनता ही मुक्ति का कारण है।

५३. आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु -

शिक्षावचः सहस्रैर्वा क्षीणपुण्ये न धर्मधीः।

पात्रे तु स्फायते तस्मादात्मैव गुरुरात्मानः॥५५॥

पुण्यहीन मनुष्यों को हजारों हितकारी उपदेशों से भी धर्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती; किन्तु पात्र मनुष्यों में उपदेश के बिना भी धर्मबुद्धि बढ़ती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु है।

५४. धन से उन्मत्त जीवों का स्वरूप -

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम्।

प्रयान्तोऽपि न कार्यान्तं धनान्धा इति चिन्त्यताम्॥५६॥

धन से अन्धे हुए व्यक्ति कल्याणकारी धर्म के मार्ग को न तो सुनते हैं, न समझते हैं और न ही उस पर चलते ही हैं। यदि कदाचित् सन्मार्ग पर चलें तो भी बीच में ही रुक जाते हैं, पूर्णता तक नहीं पहुँच पाते।

५५. धन का स्वरूप -

धनार्जनादपि क्षेमे क्षेमादपि च तत्क्षये।

उत्तरोत्तरवृद्धाः हि पीडा नृणामनन्तशः॥६७॥

मनुष्यों को धन कमाने से अधिक उसकी रक्षा करने में तथा रक्षा करने से भी अधिक उसके नाश होने पर उत्तरोत्तर अनन्तगुनी पीड़ा होती है।

५६. धनरक्षा का उपाय -

यथाशक्तिः प्रतिकारः करणीयस्तथापि चेत् ।

व्यर्थः किमत्र शोकेन यदशोकः प्रतिक्रियाः ॥६८॥

मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार ऐसा उपाय करना चाहिए कि धन का नाश न हो; किन्तु यदि उपाय असफल हो जाए तो शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि शोक का प्रतिकार शोक नहीं करने में है।

### लम्ब-३

५७. धन की सत्ता और वृद्धि के लिए कमाना आवश्यक -

स्वापतेयमनायं चेत्सव्ययं व्येति भूर्यपि ।

सर्वदा भुज्यमानो हि पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥५॥

जिसप्रकार हमेशा भोगा जानेवाला पर्वत भी नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार जिसमें आमदनी बिलकुल नहीं है, किन्तु खर्च ही खर्च है; वह धन बहुत होने पर भी नष्ट हो जाता है।

५८. दरिद्रता का दुःख -

दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम् ।

अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥६॥

मनुष्य को दरिद्रता से बढ़कर अन्य कोई बड़ा दुःख नहीं है; क्योंकि दरिद्रता मनुष्य को प्राणों के निकले बिना ही जीवित मरण है।

५९. निर्धन के गुण और विद्या की स्थिति -

रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।

हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते ॥७॥

निर्धन व्यक्ति के जगत्प्रशंसनीय गुण भी प्रकाशित/प्रसिद्ध नहीं होते। इतना

ही नहीं, खेद की बात तो यह है कि उसकी विद्यमान, स्पष्ट और प्रगट विद्याएँ भी शोभायमान नहीं होतीं।

६०. दरिद्री की दयनीय दशा -

स्यादकिञ्चित्करः सोऽयमाकिञ्चन्येन वञ्चितः ।

अलमन्यैः स साकूतं धन्यवक्त्रं च पश्यति ॥८॥

निर्धनता द्वारा ठगाया गया मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अन्य बातों की तो क्या चर्चा करें? वह निर्धन मनुष्य कुछ मिलेगा - इस आशा से धनवान मनुष्यों का मुँह ताकने लगता है।

६१. धन की सार्थकता -

सम्पल्लाभफलं पुंसां सज्जनानां हि पोषणम् ।

काकार्थफलनिम्बोऽपि श्लाघ्यते न हि चूतवत् ॥९॥

जिसप्रकार कौए के लिए हितकारी होने पर भी अन्य प्राणियों के काम का न होने से नीम का वृक्ष आम के समान प्रशंसनीय नहीं होता; उसीप्रकार दुर्जनों को धनादिक देना उनके लिए तो हितकर है, किन्तु वह सज्जनों को धन देने के समान प्रशंसनीय नहीं है।

६२. धन की निरर्थकता -

लोकद्वयहितं चापि सुकरं वस्तु नासताम् ।

लवणाब्धिगतं हि स्यान्नादेयं विफलं जलम् ॥१०॥

जिसप्रकार नदियों का मीठा जल भी समुद्र में जाकर खारा हो जाता है, पीने योग्य नहीं रहता; उसीप्रकार इहलोक और परलोक में हितकारी वस्तु दुर्जन के पास जाकर बेकार हो जाती है।

६३. अज्ञानी भावी विपत्ति से दुःखी -

भाविन्या विपदो यूयं विपन्नाः किं बुधाः शुचा ।

सर्पशङ्काविभीताः किं सर्पास्ये करदायिनः ॥१६॥

जिसप्रकार सर्प से डरनेवाले लोग कभी भी सर्प के मुँह में हाथ नहीं डालते,

उससे दूर ही रहते हैं; उसीप्रकार भावी विपत्ति के दुःख से दुःखी होना समझदार पुरुषों का काम नहीं, अपितु भविष्यकालीन विपत्ति के दुःख से अज्ञानी ही दुःखी होते हैं।

६४. विपत्ति से बचने का सही उपाय -

विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता ।  
तच्च तत्त्वविदामेव तत्त्वज्ञाः स्यात् तद्बुधाः ॥१७॥

विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयपना ही है, शोक करना नहीं; और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों में होती है। अतः सभी को तत्त्वज्ञानी होना चाहिए।

६५. आशा ही सुखनाशक -

लोकद्वयहितायात्मत्रैराश्यनिरतो भव ।  
धर्मसौख्यच्छिदाशा ते तरुच्छेदः फलार्थिनाम् ॥२३॥

जिस वृक्ष से फल चाहते हैं, उसी वृक्ष को काटने के समान आशा धर्म और सुख की नाशक है। अतएव हे आत्मन्! आत्मकल्याण के लिए दोनों लोकों में विषय-भोग एवं धन की इच्छा को छोड़ो।

## लम्ब-४

६६. धर्महीन जीवों की पापप्रवृत्ति -

निर्निमित्तमपि घ्नन्ति हन्त जन्तूनधार्मिकाः ।  
किं पुनः कारणाभासे नो चेदत्र निवारकः ॥५॥

धर्म के स्वरूप को न समझनेवाले पापी लोग अकारण ही प्राणियों को मार डालते हैं। इस पर भी उन्हें यदि कोई झूठा ही कारण मिल जाए और कोई रोकनेवाला भी न हो, तब तो फिर कहना ही क्या ?

६७. णमोकार महामन्त्र का जाप उपयोगी -

मरणक्षणलब्धेन येन श्वा देवताजनि ।  
पञ्चमन्त्रपदं जप्यमिदं केन न धीमता ॥१०॥

मृत्यु के समय जिस मन्त्र को सुनने मात्र से कुत्ता भी देव हो गया, वह णमोकार मन्त्र किस विवेकवान के द्वारा जपने योग्य नहीं है ?

६८. मित्र का सच्चा स्वरूप -

समदुःखसुखा एव बन्धवो हात्र बान्धवाः ।  
दूता एव कृतान्तस्य द्वन्द्वकाले पराङ्मुखा ॥३२॥

इस संसार में सुख में और दुःख में समानरूप से साथ रहनेवाले ही सच्चे मित्र और बन्धु हैं; किन्तु आपत्ति आ जाने पर साथ छोड़कर भाग जानेवाले लोग तो मानो साक्षात् यम के ही दूत हैं।

## लम्ब-५

६९. मानसिकपीड़ा का कारण -

गुणाधिक्यं च जीवानामाधेरेव हि कारणम् ।  
नीचत्वं नाम किं नु स्यादस्ति चेद् गुणरागिता ॥५॥

गुणीजनों के गुण नीच व्यक्तियों के लिए मानसिक पीड़ा का कारण होते हैं; किन्तु यदि गुणग्रहणता का भाव हो तो नीचता टिक ही नहीं सकती।

७०. नीच मनुष्य की मनोवृत्ति -

उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते ।  
पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्धनम् ॥६॥

जैसे सर्प को पिलाया गया दूध विष की ही वृद्धि करता है; वैसे ही नीच मनुष्यों के प्रति किया गया उपकार अपकार के लिए ही होता है।

७१. सज्जन और दुर्जन का स्वभाव -

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः ।  
यथाश्रुतं यथारुच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥१८॥

जिसप्रकार हंस मिले हुए दूध और पानी में से मात्र दूध को ग्रहण कर लेता है; उसीप्रकार सज्जन भी सारभूत अंश को ग्रहण करता है; किन्तु दुर्जन लोग जनश्रुति और अपनी रुचि के अनुसार ही कार्य करते हैं।

७२. सज्जनता का लक्षण -

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुणदोषप्रवर्तिते ।  
स्यातामादानहाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम् ॥१९॥

अन्य कारणों की अपेक्षा बिना मात्र लाभ और हानि का विचार करके किसी भी वस्तु को ग्रहण करना या छोड़ना सज्जनता का लक्षण है ।

७३. ज्ञानपूर्वक आचरण ही श्रेष्ठ -

युक्तायुक्तवितर्केऽपि तर्करूढविधावति ।  
पराङ्मुखात्फलं किम्वा वैदुष्याद्वैभवादपि ॥२०॥

उचित और अनुचित के विचार के पश्चात् उचित सिद्ध हुए कार्य के विपरीत अनुचित कार्य में प्रवृत्ति करनेवालों की विद्वत्ता और ऐश्वर्य व्यर्थ ही हैं ।

७४. विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है -

विपच्च सम्पदे पुण्यात्किमन्यत्तत्र गण्यते ।  
भानुर्लोकं तपन्कुर्याद्विकासश्रियमम्बुजे ॥२५॥

जैसे जो सूर्य समस्त संसार को सन्तप्त करता है, वही सूर्य कमल को विकसित करता है; वैसे ही पुण्यकर्म का उदय हो तो विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है, फिर अन्य अनुकूलता का तो कहना ही क्या ?

७५. धर्मात्मा का स्वभाव -

धर्मो नाम कृपामूलः सा तु जीवानुकम्पनम् ।  
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥३५॥

दया ही धर्म का मूल है और वह दया जीवों की रक्षा करनेरूप है; इसलिए अरक्षित जीवों की दया करना धर्मात्मा का लक्षण है ।

७६. सज्जनों का सहज स्वभाव -

सम्पदापदद्वये स्वेषां समभावा हि सज्जनाः ।  
परेषां तु प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च निसर्गतः ॥३८॥

सज्जन पुरुष अपने सुख-दुःख में हर्ष-विषाद नहीं करते; अपितु समताभाव धारण करते हैं और दूसरों के सुख-दुःख में स्वाभाविकरूप से सुखी-दुःखी होते हैं ।

७७. धर्मात्मा पुरुषों की पूजा -

दैवतेनापि पूज्यन्ते धार्मिकाः किं पुनः परैः ।  
अतो धर्मरतः सन्तु शर्मणे स्पृहयालवः ॥४१॥

देवगति के देव भी धर्मात्मा पुरुषों की पूजा करते हैं, तो अन्य सामान्य लोगों की तो बात ही क्या ? इसलिए सुख की कामना करनेवाले व्यक्तियों को धर्म में लग जाना चाहिए ।

७८. पूज्य-पूजक का सहज सुमेल -

पूज्या अपि स्वयं सन्तः सज्जनानां हि पूजकाः ।  
पूज्यत्वं नाम किं नु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥४५॥

स्वयं दूसरों द्वारा पूजनीय होने पर भी सज्जन पुरुष अन्य सज्जन पुरुषों के पूजक होते हैं; क्योंकि पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने पर पूज्यपना भी कायम नहीं रह सकता ।

७९. बुद्धिमानों की नम्रता फलदायक -

प्राज्ञेषु प्रहृतावश्यमात्मवश्योचिता मता ।  
प्रहृताऽपि धनुष्काणां कार्मुकस्यैव कामदा ॥४६॥

जैसे धनुष्य की नम्रता धनुर्धारियों के मनोरथ को सिद्ध करनेवाली होती है, वैसे ही बुद्धिमानों की नम्रता से उनके मनोरथों की सिद्धि सहज ही होती है; अतः बुद्धिमानों में नम्रता होना आवश्यक है ।

## लम्ब-६

८०. महापुरुषों के संसर्ग से भूमि का तीर्थक्षेत्र बन जाना -

सद्भिरध्युषिता धात्री सम्पूज्येति किमद्भुतम् ।

कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥५॥

सज्जन अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुषों के निवास से भूमि यदि पूजनीय तीर्थक्षेत्र बन जाती है तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है; क्योंकि काला लोहा भी रसायन के सम्बन्ध से सोना बन जाता है।

८१. संगति का प्रभाव -

सदसत्सङ्गमादेव सदसत्त्वे नृणामपि।

तस्मात्सत्सङ्गताः सन्तु सन्तो दुर्जनदूरगाः ॥६॥

सज्जनों और दुर्जनों की संगति से ही मनुष्य को सज्जनता और दुर्जनता की प्राप्ति होती है; अतः सज्जन पुरुषों को दुर्जनों से दूर रहना चाहिए तथा सज्जन पुरुषों की संगति करना चाहिए।

८२. सच्चे तप का स्वरूप -

तत्तपो यत्र जन्तूनां सन्तापो नैव जातुचित्।

तच्चारम्भनिर्वृत्तौ स्यान्न ह्यारम्भो विहिंसनः ॥१४॥

जिसमें किसी भी जीव को किंचित मात्र भी सन्ताप/क्लेश/दुःख नहीं होता है, वही सच्चा तप है। वह तप आरम्भ के सर्वथा छूट जाने पर ही होता है; क्योंकि कोई भी आरम्भ हिंसा से रहित नहीं होता।

८३. मुनि-अवस्था में ही आरम्भ का अभाव -

आरम्भविनिवृत्तिश्च निर्ग्रन्थेष्वेव जायते।

न हि कार्यपराचीनैर्मृग्यते भुवि कारणम् ॥१५॥

आरम्भ का अभाव परिग्रहरहित मुनियों में ही होता है; क्योंकि जिन्हें संसार में रहते हुए भी सांसारिक कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं है, वे उनके कारणों की खोज नहीं करते।

८४. सम्यक् तप निर्ग्रन्थ अवस्था में ही -

नैर्ग्रन्थं हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम्।

मुमुक्षूणां हि कायोऽपि हेयः किमपरं पुनः ॥१६॥

बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से रहित मुनिपना ही सच्चा तप है। इसे छोड़कर अन्य तप संसार के ही कारण हैं। वास्तव में तो मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों को शरीर का ममत्व भी छोड़ने योग्य है, फिर अन्य परिग्रह का तो कहना ही क्या ?

८५. परिग्रह ही संसार -

ग्रन्थानुबन्धी संसारस्तेनैव न परिक्षयी।

रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन शुध्यति ॥१७॥

जिसप्रकार खून से मलिन हुआ वस्त्र खून से ही साफ नहीं हो सकता; उसीप्रकार राग-द्वेषादि परिग्रहों से बढ़नेवाला संसार इन्हीं परिग्रहों को ग्रहण करने से कैसे नष्ट हो सकता है ?

८६. तत्त्वज्ञान रहित नग्नता फलदाता नहीं -

तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थमपि निष्फलम्।

न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥१८॥

जैसे चावलरूप उपादान कारण बिना मात्र बटलोई, जल, अग्नि, रसोइया आदि निमित्त कारणों से साध्यभूत भात/पका चावल प्राप्त नहीं हो सकता; वैसे ही यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित मात्र नग्नता निष्फल है, मोक्ष-प्रदाता नहीं है।

८७. सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का यथार्थ स्वरूप -

तत्त्वज्ञानं च जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः।

अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन् मिथ्याज्ञानं तु कथ्यते ॥१९॥

इस लोक में जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है और इन्हीं सात तत्त्वों का अयथार्थ निर्णय होना मिथ्याज्ञान है।

८८. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप -

आप्तागम - पदार्थाख्यतत्त्ववेदनतद्रुची।

वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम् ॥२०॥

आप्त, आगम और सत्यार्थ पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, इनकी

यथार्थ रुचि अर्थात् श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का आत्मा में अटलरूप से धारण करना सम्यक्चारित्र कहलाता है।

८९. रत्नत्रय ही सच्चा मोक्षमार्ग -

इति त्रयी तु मार्गः स्यादपवर्गस्य नापरम्।

बाह्यमन्यत्तपः सर्वं तत्रयस्यैव साधनम् ॥२१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा कोई भी मोक्ष का मार्ग नहीं है तथा अन्य सभी बाह्य तप इन तीनों के ही साधन हैं।

९०. मिथ्यादर्शनादि मोक्ष का उपाय नहीं -

तत्रयं च न मोक्षार्थमाप्ताभासादिगोचरम्।

ध्यातो गरुडबोधेन न हि हन्ति विषं बकः ॥२३॥

जिसप्रकार सर्प का विष गरुड का ध्यान करने से ही नष्ट होता है, बगुले को गरुड मानकर उसका ध्यान करने से नहीं; उसीप्रकार सच्चे देव, शास्त्र और तत्त्वों का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही मोक्ष के साधन हैं; कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण स्वरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र नहीं।

९१. सर्वज्ञ कथित तप ही करने योग्य -

सर्वदोषविर्निमुक्तं सर्वज्ञोपज्ञमञ्जसा।

तप्यध्वं तत्तपो यूयं किं मुधा तुषखण्डनैः ॥२३॥

सभी लोगों को हिंसादि दोषों से रहित तथा सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तप ही करना चाहिए; क्योंकि चावल रहित भूसे को कूटने के समान मिथ्यातप करने से क्या लाभ ?

९२. स्वयं दुःखी व्यक्ति दूसरों को सुखी नहीं बना सकता -

रागादिदोषसंयुक्तः प्राणिनां नैव तारकः।

पतन्तः स्वयमन्येषां न हि हस्तावलम्बनम् ॥२५॥

जिसप्रकार स्वयं गिरता हुआ व्यक्ति दूसरों का सहारा नहीं हो सकता; उसीप्रकार रागादि से युक्त होने के कारण स्वयं संसार समुद्र में डूबनेवाला व्यक्ति

कभी दूसरों को संसार से पार उतारनेवाला नहीं हो सकता।

९३. सच्चे देव नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करनेवाले नहीं हो सकते -

न च क्रीडा विभोस्तस्य बालिशेष्वेव दर्शनात्।

अतृप्तश्च भवेत्तृप्तिं क्रीडया कर्तुमुद्यतः ॥२६॥

सच्चे देव को क्रीड़ाओं से क्या प्रयोजन ? क्रीड़ाएँ तो बालकों और अज्ञानियों के जीवन में देखने को मिलती हैं। अतृप्त अर्थात् दुःखी जीव ही नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करके सुख प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं।

९४. सच्चे देव की स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं हो सकती -

स्वैराचास्वभावोऽपि नैश्वरस्यैश्यहानितः।

अप्यस्मदादिभिर्द्वेष्यं सर्वोत्कर्षवतः कुतः ॥२७॥

सच्चे देव के स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा उनमें प्रभुत्वपने की हानि होगी; क्योंकि जब हम जैसे सामान्य व्यक्ति भी स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति को अच्छा नहीं मानते तो सर्वोत्कर्षशाली ईश्वर के स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

९५. ईश्वर जगत का कर्ता नहीं -

अदोषश्चेदकृत्यं च कृतिनः किमु कृत्यतः।

स्वैराचारविधिर्दृष्टो मत्त एव न चोत्तमे ॥२८॥

यदि ईश्वर सर्व दोषों से रहित निर्दोष है अर्थात् सर्व सुख सम्पन्न और परिपूर्ण है तो उसे करने योग्य कार्य क्या रहा ? कुछ भी नहीं। दूसरी बात यह भी है कि स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुषों में ही देखी जाती है, उत्तम विचारवान पुरुषों में नहीं।

९६. संसार की सर्वोत्तम सम्पत्ति -

बोधिलाभात्परा पुंसां भूतिः का वा जगत्त्रये।

किम्पाकफलसङ्काशैः किं परैरुदयच्छलैः ॥३१॥

मनुष्यों के लिए तीनों लोकों में रत्नत्रय की प्राप्ति से बढ़कर और क्या सम्पत्ति है ? क्योंकि फलकाल में विषवृक्ष के फल सदृश अत्यन्त दुःखदायक धन, पुत्रादिक

से कुछ भी लाभ नहीं मिलता।

९७. जिनेन्द्र भगवान से सम्यग्ज्ञानरूपी दीप की कामना -

भगवन्दुर्णयध्वान्तैराकीर्णो पथि मे सति।  
सज्ज्ञानदीपिका भूयात्संसारवधिवर्धिनी ॥३३॥

हे भगवन् ! मेरा मार्ग दुर्नयरूपी अन्धकार से व्याप्त है, अतः आपके प्रसाद से मुझे मुक्तिमार्ग दिखलानेवाला सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक प्राप्त होवे।

९८. भगवान हमारे मन को शान्ति प्रदान करें -

स्वान्तशान्तिं ममैकान्तामनेकान्तैकनायकः।  
शान्तिनाथो जिनः कुर्यात्संसृतिक्लेशशान्तये ॥३५॥

अनेकान्त के अद्वितीय नायक हे शान्तिनाथ भगवन् ! संसार के दुःखों को दूर करने के लिए आप मेरे मन को शान्ति प्रदान करें।

### लम्ब-७

९९. षट्कर्मोत्पन्न सुख का स्वरूप -

षट्कर्मोपस्थितं स्वास्थ्यं तृष्णाबीजं विनश्वरम्।  
पापहेतुः परापेक्षि दुरन्तं दुःखमिश्रितम् ॥१२॥

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य - इन छह प्रकार के कर्मों से उत्पन्न सुख तृष्णा का कारण, नश्वर, पाप का कारण, दूसरों की अपेक्षा रखनेवाला, अन्त में दुःख देनेवाला और दुःख से मिला हुआ है।

१००. आत्मोत्पन्न सुख का स्वरूप -

आत्मोत्थमात्मना साध्यमव्याबाधमनुत्तरम्।  
अनन्तं स्वास्थ्यमानन्दमतृष्णामपवर्गजम् ॥१३॥

आत्मा के द्वारा प्राप्त करने योग्य, आत्मा से उत्पन्न, बाधारहित, तृष्णारहित, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष में होनेवाला आनन्द ही सच्चा सुख है।

१०१. मोक्ष-प्राप्ति का उपाय -

तदपि स्वपरज्ञाने याथात्म्यरुचिमात्रके।  
परित्यागे च पूर्णे स्यात्परमं पदमात्मनः ॥१४॥

आत्मा का वह परमपद मोक्ष आत्मा की यथार्थ रुचिरूप सम्यग्दर्शन, भेदविज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और आत्मरमणतारूप सम्यक्चारित्र के परिपूर्ण होने पर प्राप्त होता है।

१०२. स्व-पर भेदज्ञान का स्वरूप -

स्वमपि ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादिगुणात्मकम्।  
परं पुत्रकलत्रादि विद्धि गात्रमलं परैः ॥१५॥

आप अपनी आत्मा को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुणात्मक जानो; पुत्र, मित्र, स्त्री आदि को पर जानो। अधिक कहने से क्या लाभ ? जन्म से ही सदा साथ रहनेवाले शरीर को भी पर वस्तु ही जानो।

१०३. देहासक्ति से बारम्बार देह प्राप्ति -

एवं भिन्नस्वभावोऽयं देही स्वत्वेन देहकम्।  
बुध्यते पुनरज्ञानादतो देहेन बध्यते ॥१६॥

इसप्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र और देह से भिन्न स्वभाव को धारण करनेवाला यह आत्मा अज्ञान के कारण देह को ही आत्मा मानता है; अतः देह मिलने योग्य कर्म को बाँधता है अर्थात् पुनः देह धारण करता है।

१०४. अज्ञान ही संसार भ्रमण का कारण -

अज्ञानात्कायहेतुः स्यात्कर्माज्ञानमिहात्मनाम्।  
प्रतीके स्यात्प्रबन्धोऽयमनादिः सैव संसृतिः ॥१७॥

इस संसार में आत्मा को अज्ञान से शरीर के कारणभूत कर्म का बन्ध होता है और फिर शरीर की प्राप्ति होने पर अज्ञान होता है। इसप्रकार अज्ञान और कर्मबन्ध की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है और इसी परम्परा का नाम संसार है।

१०५. निजात्मतत्त्व का स्वीकार ही कर्तव्य -

स्वं स्वत्वेन ततः पश्यन्परत्वेन च तत्परम् ।  
परत्यागे मतिं कुर्याः कार्थैरन्यैः किमस्थिरैः ॥१८॥

ज्ञान-दर्शनस्वरूपी आत्मा को निजरूप से तथा आत्मा से भिन्न अन्य वस्तुओं को पररूप जानते हुए परवस्तुओं का त्याग करो; क्योंकि पर वस्तुओं से सम्बन्धित अन्य नश्वर कार्यों से आत्मा का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है ।

१०६. शरीर का निन्द्य स्वरूप और अज्ञानी का मोह -

पृथक्चेदङ्गनिर्माणं चर्ममांसमलादिकम् ।  
सजुगुप्सेऽत्र तत्पुञ्जे मूढात्मा हन्त मुह्यति ॥३७॥

बाहर से सुन्दर दिखनेवाले इस शरीर की रचना यदि अलग-अलग की जाए तो इसमें चमड़ा, मांस और मलादि अपवित्र पदार्थों के ही दर्शन होंगे; परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि इस चमड़ा, मांस एवं मलादि के पिण्डरूप शरीर पर अज्ञानी जीव मोहित होता है ।

१०७. शरीर सम्बन्धी मोह पर विचार -

दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तं विवेचने ।  
नेक्षते जातु देहेऽस्मिन्मोहे को हेतुरात्मनाम् ॥३८॥

आत्मा के अलग होने पर इस शरीर में दुर्गन्धित मल-मांसादिक के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने में नहीं आता; फिर भी प्राणियों को शरीर से मोह क्यों होता है ? इसका विचार करना चाहिए ।

१०८. शरीर सम्बन्धी मोह का कारण -

अज्ञानमशुचेर्बीजं ज्ञात्वा व्यूहं च देहकम् ।  
आत्मात्र सस्पृहो वक्ति कर्माधीनत्वमात्मनः ॥३९॥

यह शरीर ज्ञानरहित, अपवित्रता का कारण और हिताहित के विचार से रहित है - ऐसा जानकर भी आत्मा शरीर से राग करता है, इससे तो आत्मा का कर्माधीनपना ही प्रतिलक्षित होता है ।

१०९. स्त्री-पुरुष के सान्निध्य का सामान्य स्वरूप -

अङ्गारसदृशी नारी नवनीतसमा नराः ।  
तत्तत्सान्निध्यमात्रेण द्रवेत्पुसां हि मानसम् ॥४१॥

स्त्री जलते हुए कोयले के समान है और पुरुष मक्खन के समान है । जैसे अग्नि के समक्ष मक्खन सहज ही पिघल जाता है; वैसे ही स्त्री के समीप होने पर पुरुष सहज ही कामातुर हो जाता है; अतः पुरुषों को स्त्रियों से दूर रहना ही उचित है ।

११०. स्त्रियों के संसर्ग से दूर ही रहना -

संलापवासहासादि तद्वर्ज्यं पापभीरुणा ।  
बालया वृद्धया मात्रा दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥४२॥

पाप से भयभीत विवेकशील पुरुषों को बालिका, युवती, वृद्ध स्त्री ही नहीं; अपनी माता, पुत्री तथा व्रतधारिणी ब्रह्मचारिणी, आर्यिकादि से भी एकान्त में निरर्थक वार्तालाप, हँसी-मजाकादि नहीं करना चाहिए ।

१११. विद्वान-अविद्वान का स्वरूप -

नभश्चर कश्चित्स्याद्विपश्चिदविपश्चितोः ।  
विनिश्चलशुचोर्भेदो यतश्चन कुतश्चन ॥५६॥

जीवन्धरकुमार आसक्त विद्याधर को समझाते हैं - हे विद्याधर ! १) विद्वज्जन विपत्ति आने पर भी धैर्य धारण करते हैं और विशेष लाभ होने पर गर्व नहीं करते हैं । २) मूर्ख लोग अल्प आपत्ति से ही अधीर हो जाते हैं और अल्प लाभ में ही फूल जाते हैं । विद्वान और अविद्वान में यही अन्तर है ।

११२. पातिव्रत्य की दुर्लभता -

परं सहस्रधीभाजि स्त्रीवर्गे का पतिव्रता ।  
पातिव्रत्यं हि नारीणां गत्यभावे तु कुत्रचित् ॥५७॥

हजारों प्रकार की विलक्षण बुद्धि की धारक स्त्रीसमूह में पातिव्रत्य कहाँ रहेगा ? अर्थात् ऐसी स्थिति में पातिव्रत्य अत्यन्त दुर्लभ है । वास्तव में देखा जाए तो सरलता से भ्रष्ट होने के अवसर न मिलने के कारण हजारों स्त्रियों में पातिव्रत्य

कहीं-कहीं पर पाया जा सकता है।

११३. स्त्री का रूप -

मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागरोषादि - भूषिताः।  
असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यधनाः स्त्रियः ॥५८॥

स्त्रियों में घमण्ड, मात्सर्य, ईर्ष्या, मायाचारी, द्वेष, मोह, क्रोध, झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता आदि दोष स्वभाव से ही होते हैं।

११४. स्त्री के स्वरूप का पुनः कथन -

निर्घृणे निर्दये क्रूरे निर्व्यवस्थे निरङ्कुशे।  
पापे पापनिमित्ते च कलत्रे ते कुतः स्पृहा ॥५९॥

घृणारहित, निर्दय, दुष्ट, व्यवस्थारहित, स्वतन्त्र, पापरूप और पाप की कारणभूत स्त्री से प्रेम और उसका विश्वास भी नहीं रखना चाहिए।

## लम्ब-९

११५. शरीर के सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप -

मक्षिकापक्षतोऽप्यच्छे मांसाच्छादनचर्मणि।  
लावण्यं भ्रान्तिरित्येतन्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम् ॥१२॥

मांस-मज्जा को ढकनेवाले, मक्खी के पंख से भी पतले और स्वच्छ चमड़े में सुन्दरता मानना मूर्खता है, इस बात को बुढ़ापा सूचित करता है।

११६. अज्ञान का स्पष्ट स्वरूप -

प्रतिक्षणविनाशीदमायुः कायमहो जडाः।  
नैव बुध्यामहे किन्तु कालमेव क्षयात्मकम् ॥१३॥

संसारी जीव की आयु और शरीर क्षण-क्षण में परिवर्तित एवं नष्ट हो रहे हैं, किन्तु आश्चर्य की बात है कि हम अविवेकी लोग आयु और शरीर को क्षण-क्षण में विनष्ट होनेवाले नहीं मानते हैं; अपितु काल को ही विनश्वर मानते हैं।

## लम्ब-१०

११७. सांसारिक सुख-दुःख के मूल कारण -

पुण्यपापादृते नान्यत्सुखे दुःखे च कारणम्।  
तन्तवो हि न लूतायाः कूपपातनिरोधिनः ॥४८॥

जैसे मकड़ी के जाल के तन्तु कुँ में गिरते हुए प्राणी को बचाने में कारण नहीं हो सकते, वैसे ही पुण्य और पापकर्म के बिना सुख और दुःख में अन्य कोई बाह्य वस्तु कारण नहीं हो सकती।

११८. वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय -

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ।  
दग्धं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

जैसे स्वर्ण तपाये जाने पर भी अपनी कान्ति और बहुमूल्यता को नहीं छोड़ता; वैसे ही अपना अनिष्ट किये जाने पर भी सज्जन मनुष्य अपनी सज्जनता नहीं छोड़ता। तथा जैसे कोयला किसी भी प्रकार से और कभी भी अपनी कालिमा नहीं छोड़ सकता; वैसे ही दुर्जन मनुष्य महान उपकार पाकर भी अपनी दुर्जनता नहीं छोड़ सकता।

११९. धन से सज्जनता और दुर्जनता का सम्बन्ध नहीं -

रिक्तारिक्तदशायां च सदसन्तौ न भेदिनौ।  
खाताऽपि हि नदी दत्ते पानीयं न पयोनिधिः ॥५३॥

जैसे नदी सूख जाने पर भी उसे खोदने से वह प्यासे पथिक को मीठा जल देती है, वैसे ही सज्जन मनुष्य निर्धन होने पर भी दूसरों की यथाशक्ति मदद ही करते हैं। तथा जैसे अपरिमित खारे जल से भरा हुआ समुद्र प्यासे पथिक की प्यास नहीं बुझा सकता, वैसे ही दुर्जन मनुष्य धनवान होने पर भी दूसरों की कभी सहायता नहीं करते हैं।

१२०. सुख-दुःख का परस्पर सम्बन्ध -

चिरस्थाय्यपि नष्टं स्याद्विरुद्धार्थे हि वीक्षिते।  
सन्निधावपि दीपस्य किं तमिस्रं गुहामुखम् ॥६०॥

जैसे अन्धकार से परिपूर्ण व्याप्त गुफा के समीप दीपक लाने पर अन्धकार स्वयमेव ही निकल कर भाग जाता है, वैसे ही चिरकाल से उपस्थित वस्तु भी उसके विरोधी पदार्थ के आने से स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

## लम्ब-११

१२१. सज्जन/बुद्धिमान मनुष्य की विशेषताएँ -

कृतिनामेकरूपा हि वृत्तिः सम्पदसम्पदोः ।

न हि नादेयतोयेन तोयधेरस्ति विक्रिया ॥३॥

जिसप्रकार हजारों नदियों के जल को प्राप्त करके भी समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता; उसीप्रकार बहुत ज्यादा सम्पत्ति या विपत्ति को प्राप्त कर बुद्धिमान पुरुष भी खेद खिन्न नहीं होते।

१२२. राज्यशासन और तप की समानता -

तपसा हि समं राज्यं योगक्षेमप्रपञ्चतः ।

प्रमादे सत्यधः पातादन्यथा च महोदयात् ॥८॥

राज्यशासन योग और क्षेम के विचार से तप के समान है; क्योंकि राज्य और तप के योग-क्षेम के विषय में प्रमाद करने से दोनों का अधःपतन होता है और प्रमाद छोड़ने से दोनों का महान उत्कर्ष होता है।

कभी नहीं प्राप्त वस्तु के पाने को योग कहते हैं और प्राप्त की रक्षा करना क्षेम कहलाता है।

राज्यशासन की अपेक्षा 'योग' शब्द का अर्थ अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और 'क्षेम' का अर्थ प्राप्त की हुई वस्तु की सुरक्षा है।

१२३. पद्मा आर्यिका का उपदेश -

प्रव्रज्याः जातुचित्प्राज्ञैः प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।

न हि खादापतन्ती चेद्रत्नवृष्टिर्निवार्यते ॥१७॥

जिसप्रकार अपने आप आकाश से बरसती हुई रत्न-राशि को कोई गिरने से नहीं रोकता; उसीप्रकार बुद्धिमान लोग जिनदीक्षा धारण करने में किसीप्रकार भी

बाधक नहीं बनते।

१२४. जिनदीक्षा लेना विवेकी जनों का कर्तव्य -

वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्विरपेक्ष्यताम् ।

भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते ॥१८॥

विवेकीजनों को कम से कम अपनी मनुष्य आयु के अन्तिम भाग अर्थात् वृद्धावस्था में तो जिनदीक्षा को स्वीकार करना ही चाहिए; क्योंकि पण्डित जन राख के लिए रत्नहार को जलाने का निकृष्ट कार्य नहीं करते।

१२५. ज्ञानियों का विकार क्षणस्थायी -

न चिराद्धि पदं दत्ते कृतिनां हृदि विक्रिया ।

यदि रत्नेऽपि मालिन्यं न हि तत्कृच्छ शोधनम् ॥२०॥

जैसे रत्न पर आई हुई मलिनता सरलता से ही नष्ट हो जाती है; वैसे ही बुद्धिमानों के हृदय में बहुत समय तक विकार भाव नहीं ठहरते।

१२६. मन्त्रयन्त्रादयोऽप्यात्मन्स्वतन्त्रं शरणं न ते ।

किन्तु सत्येव पुण्ये हि नो चेत्केनाम तैः स्थिताः ॥३५॥

हे आत्मन्! पुण्यकर्म के उदय के बिना मन्त्र-तन्त्रादिक स्वतन्त्ररूप से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते; किन्तु पुण्य का उदय हो तो ही मन्त्रादिक सहायक सिद्ध होते हैं। यदि पुण्योदय के बिना ही मन्त्रादिक रक्षक हो सकते तो आज तक कोई मरता ही नहीं, सभी जीव अमर हो जाते।

१२७. तन्नास्ति यन्न वै भुक्तं पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।

तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै बिन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

हे आत्मन्! इस संसार में जो अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य हैं, उनको तुम बार-बार भोग चुके हो। इसलिए जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूँद पानी पीने को मिले तो उसे कभी सन्तोष नहीं हो सकता; वैसे ही वर्तमानकालीन कुछ पुद्गलों का सेवन करने से तुम्हें भी सन्तोष नहीं हो सकता।

१२८. भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।

अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्वमतुच्छं हन्त नेच्छसि ॥३९॥

हे आत्मन् ! खेद है कि तुम जिन पुद्गलादि वस्तुओं को अनेक बार भोगकर उच्छिष्ट बना चुके हो; उन्हीं को बार-बार भोगने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हो; किन्तु जिस अनन्त आनन्ददायक मोक्षसुख का तुमने एक बार भी स्वाद नहीं लिया, उस महान सुख की इच्छा भी नहीं करते हो।

१२९. इच्छा का अभाव ही सुख -

परिणामविशुद्धिश्च बाह्ये स्यान्निःस्पृहस्य ते ।

निःस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्बाह्ये मुहासि किं मुधा ॥६७॥

हे आत्मन् ! बाह्य पदार्थों में इच्छा न करने से, ममत्व न करने से तुम्हारे परिणामों में निर्मलता आयेगी तथा इच्छा से रहित होना ही सुख है; इसलिए तुम बाह्य पदार्थों में व्यर्थ ही मोह क्यों करते हो ?

१३०. आत्मज्ञान का महत्त्व -

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन्पूर्ववत्संसरिष्यसि ।

कारणे जृम्भमाणेऽपि न हि कार्यपरिक्षयः ॥७२॥

हे आत्मन् ! आत्मज्ञान न होने से तुम इस दुःखमय संसार में हमेशा की तरह परिभ्रमण करते ही रहोगे; क्योंकि कारण के विद्यमान रहने पर कार्य का विनाश नहीं होता।

१३१. धर्मबुद्धि का महत्त्व -

व्यर्थः स समवायोऽपि तवात्मन्धर्मधीर्न चेत् ।

कणिशोद्गमवैधुर्ये केदारादिगुणेन किम् ॥७५॥

हे आत्मन् ! कदाचित् भव्यत्व आदि दुर्लभ पाँचों समवायों की एकसाथ प्राप्ति भी हो जाए; परन्तु यदि तुम्हारी यथार्थ धर्म में रुचि नहीं है तो उन पाँचों का एकसाथ पाना भी व्यर्थ है। जैसे खेत वगैरह अच्छे भी रहें; पर उनमें बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उनकी अच्छाई से भी क्या लाभ ?

१३२. तदात्मन्दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ कल्प्यताम् ।

भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात्परो जनः ॥७६॥

अरे मूर्ख ! इस दुर्लभ शरीर को धर्म की प्राप्ति के लिए लगाना चाहिए; क्योंकि जिसप्रकार राख की प्राप्ति के लिए रत्न को जलाना मूर्खता है; उसीप्रकार